प्रणय पत्रिका

सन् १९५०–५४ में

लिखित

बच्चन की अन्य रचनाएँ

१. त्रिभंगिमा
२. कवियो मे सौम्य संत (पंत-काव्य-समीक्षा)
३. ओथेलो (अनुवाद)
४. बुद्ध और नाचघर
५. जन गीता (अनुवाद)
६. आरती और अगारे
७. मैकबेथ (अनुवाद)
८. धार के इधर-उधर
९. मिलन यामिनी
१०. खादी के फूल
११. सूत की माला
१२. बगाल का काल
१३. हलाहल
१४. सतरगिनी
१५. आकुल अतर
१६. एकात सगीत
१७. निशा निमत्रण
१८. मधुकलश
१९. मधुबाला
२०. मधुशाला
२१. खैयाम की मधुशाला } अनुवाद
२२. उमर खैयाम की रुबाइयाँ } अनुवाद
२३. प्रारभिक रचनाएँ—पहला भाग } कविताएँ
२४. प्रारभिक रचनाएँ—दूसरा भाग } कविताएँ
२५. प्रारभिक रचनाएँ—तीसरा भाग—कहानियाँ
२६. बच्चन के साथ क्षण भर (सचयन)
२७. सोपान (सकलन)
२८. हिंदी के लोकप्रिय कवि : सुमित्रानदन पत (सपादित)
२९. आज के लोकप्रिय हिंदी कवि . हरिवशराय बच्चन
(चन्द्रगुप्त विद्यालकार द्वारा सपादित)

'मधुशाला' का अग्रेजी और 'बगाल का काल' का बगला अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।



प्रणय पत्रिका

बच्चन

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

पहला संस्करण—जनवरी, १९५५
दूसरा संस्करण—जून, १९६१

मूल्य	:	दो रुपये पचास नये पैसे
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

तेजी को

'अर्पित तुम को मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा'

अपने पाठकों से

'प्रणय पत्रिका' का दूसरा संस्करण मेरे नए प्रकाशक के यहाँ से छपने जा रहा है। उनका यह अनुरोध है कि इस संस्करण के लिए मैं एक नई भूमिका लिख दूँ। इस पुस्तक का पहला संस्करण कुछ विचित्र परिस्थितियों में निकला था। 'मिलन यामिनी' (१९५०) के पश्चात् मेरे जो गीत पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे थे उन्हें मैंने 'प्रणय पत्रिका' का नाम दे दिया था। १९५२ के आरंभ में मैं अपने अंग्रेज़ी-काव्य-स्वाध्याय के सिलसिले में इंग्लैंड चला गया था। घोर आलोचनात्मक पठन-लेखन के बीच भी सृजन-प्रेरणाएँ कविता लिखने को बाध्य करती रहीं। वहाँ से भेजी जो रचनाएँ यहाँ पत्र-पत्रिकाओं में छपीं उनसे 'प्रणय पत्रिका' नाम और भी सार्थक हुआ। केम्ब्रिज से चलते समय जब मैं अपने कागद-पत्तर समेटने लगा तो मैंने देखा कि डाक्टरेट के लिए अपनी थीसिस लिखने के अलावा मैंने इन दो वर्षों में एक सौ ग्यारह कविताएँ भी लिखीं, जिनमें दस-बारह मुक्त छंद की रचनाएँ थीं, शेष गीत थे। भारत लौटने पर मेरे काव्य-प्रेमी मेरे किसी नए संग्रह की प्रत्याशा करने लगे। बहुतों ने मुझे पत्र भी लिखे। मैं बीमार हो गया था, भोजन से अरुचि हो गई थी, और उसके साथ ही सभी चीज़ों से। करीब तीस गीत इंग्लैंड जाने से पहले के थे। सब मैंने युनिवर्सिटी के नाते अपने शिष्य श्री ओंकारनाथ श्रीवास्तव के हाथों में रक्खे कि वे इनमें से ५०-६० गीतों का एक संग्रह बनाकर प्रकाशक को दे दें। उन्होंने ५९ गीत चुने। मैंने 'दो शब्द' शीर्षक से किसी तरह सात-आठ पंक्तियों की भूमिका लिखी और पुस्तक प्रेस में भेज दी गई।

मेरे पाठक मुझसे किसी भूमिका आदि की प्रत्याशा नहीं करते। मेरे बहुत-से संग्रह, कई संस्करणों तक बिना किसी भूमिका के प्रकाशित हुए हैं, और लोगों ने उनका आनन्द लिया है क्योंकि कविता से जिस काव्यानन्द की प्रत्याशा की जाती है उसे मुहैया करने का काम केवल कविता का है। यदि कविता उसे कम देती है,

या बिलकुल नहीं देती तो उस कमी अथवा अभाव को पूरा करने का काम किसी प्रकार की भूमिका, प्रस्तावना, आलोचना, आशंसा, स्तवन अथवा सुसम्मतियों से नहीं लिया जा सकता। काव्य-प्रेमियों में कुछ काव्येतर जिज्ञासाएँ भी होती हैं। इन्हें किन्हीं सीमाओं में रहते हुए शान्त करना मैं कवि का कर्तव्य समझता हूँ। जिन्होंने कभी ऐसी जिज्ञासाएँ प्रकट की हैं—मौखिक रीति से या पत्रों के द्वारा उन्हें मैंने संतुष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रथम संस्करण के समय यदि भूमिका-स्वरूप कुछ लिखना संभव हो सकता तो मैं कुछ इसी प्रकार की प्रत्याशित जिज्ञासाओं को शांत करने का प्रयत्न करता। कुछ इसी रचना के अनुभव से नहीं, अन्य रचनाओं से भी, मैं अब जान गया हूँ कि मेरे पाठक मेरी कविताओं के विषय में प्राय: किस प्रकार की जिज्ञासा रखते हैं। आज भी उससे आगे जाने का इरादा नहीं। आशा है इससे कुछ ऐसे लोगों को भी लाभ पहुँचेगा जो स्वभाव से कम साहसी, संकोची और शर्मीले हैं।

खड़ी बोली हिंदी कविता का इतिहास कुल मिलाकर सत्तर-पचहत्तर वर्ष का है। परंतु विविधता, गुण और राशि—तीनों की दृष्टि से यह काल कम समृद्ध और संपन्न नहीं। हिंदी भारत के नवजागरण की भाषा बनकर आई थी और उसमें जाग्रत जाति का संस्कार, चिंतन, स्वप्न, उत्साह, स्वच्छंदता, आशा, सक्रियता, क्रांति सब मुखरित हुई हैं। हिंदी की मनीषा ने किन्हीं को उभारा कि वे भारत के गौरव पर विहंगम दृष्टि डालें, किन्हीं को कि वे हमारी मध्यकालीन संस्कृति में जो उत्तम है उसे संजोवें, किन्हीं को कि वे आधुनिक युग के अनुरूप अध्यात्म की स्थापना करें, किन्हीं को कि वे व्यापक आध्यात्मिक सत्ता के साथ रागात्मक संबंध स्थापित करें, किन्हीं को कि वे देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक दासता के विरुद्ध विद्रोह करें, किन्हीं को कि वे नए जीवन और नव मानवता का स्वप्न देखें, किन्ही को कि वे जीवन पर छाई उदासीनता और विरक्ति के प्रति बग़ावत करें और जीवन और जीने के प्रति प्यास, उल्लास, आस्था, विश्वास को वाणी दें। शायद इन्हीं में कहीं कोई झीना स्वर मेरा भी हो। सदियों की विचारधारा से समर्थित, परिस्थितियों से पोषित, मान्यताओं से दबे-कुचले मानव को भारत के नव जागरण के साथ अपना जन्मसिद्ध अधिकार माँगने के

लिए उभरना स्वाभाविक था। समाज के एक अंग का उसका विरोध करना भी स्वाभाविक था, काल-नियति का उसकी अभिनव आस्था को परखना भी। 'मधुशाला', 'मधुकलश', 'एकांत संगीत', 'सतरंगिनी' उसी मानव की मंज़िलें हैं, जो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों से जूझकर 'मिलन यामिनी' में प्यार, जवानी, जीवन के जादू का गीत गाता है, रीति-रूढ़ियों से निडर, जरा-मृत्यु से निर्भीक—अपनी सारी शक्ति उस हृदय-केंद्र से खींचकर जिसे वह प्रणय, प्रेम अथवा राग कहता है। मैंने यह किया, मैंने वह किया, कहना बेमानी है; यह तो हिंदी की महामनीषा है जो हममें से हर एक से उसकी क्षमता-योग्यता के अनुरूप काम ले रही है, किसी महत् उद्देश्य से। हम केवल उसके हाथ में उपकरण हैं।

आप अगर मेरी कविताओं की ओर आकर्षित होते हैं, उनसे आपको कुछ आनंद, कुछ रस, कुछ शांति, संतोष, या प्रेरणा मिलती है तो मैं यही समझता हूँ कि जग-जीवन के प्रति आपके भीतर कुछ उसी प्रकार की प्रतिक्रिया होती है, जैसी मेरी होती है। आपके मन में कुछ उसी प्रकार की भूख-प्यास है, जैसी मेरे मन में है। काव्य-साधना की कोई ऐसी सिद्धि भी हो कि आदमी दूसरे के हृदय में पैठ सके तो वह मुझे प्राप्त नहीं है। मैं तो दूसरे के हृदय को भी अपने हृदय में ही देख सकता हूँ, इस विश्वास से कि जैसे सब हैं वैसे मैं भी हूँ, जैसे अनुभव करता हूँ वैसे सब करते होंगे। मैं अपने हृदय की गहराई नापता हूँ और उससे दूसरे के हृदय की भी गहराई नप जाती है। यदि किसी दिन मैं अपने हृदय के ऐसे अतल में चला जाऊँ जहाँ मैं ही मैं रह जाऊँ तो मुझे लिखने की आवश्यकता न होनी चाहिए, और अगर हो भी तो उसे प्रकाशित करने की आवश्यकता न होनी चाहिए। मेरा प्रकाशन-लेखन तो इसी आधार पर है कि मैं अपने अनुभवों, अपनी प्रतिक्रियाओं, अपनी खोजों, अपनी प्राप्तियों, अपनी प्रेरणाओं में दूसरों से संबद्ध हूँ। वास्तव में 'मैं अपनी कविताओं को लिखकर जो ढूँढता हूँ, वही आप पढ़कर ढूँढ़ते हैं; इस प्रकार कविता लिखने और कविता पढ़ने का आंतरिक लक्ष्य एक ही है। सारथी जहाँ घोड़ों को हाँककर पहुँचता है, सवार वहाँ रथ में बैठे-बैठे पहुँच जाता है। कवि का दान यदि हाथों तक ही नहीं, हृदय तक पहुँच सके, तो वह पाठक के लिए कितना बड़ा वरदान है। कवि को सिंहासन पर बैठा हुआ, बादलों में उड़ता हुआ,

आसमान को छूता हुआ समझने की जरूरत नहीं। (मेरे प्रिय कवि वे ही हैं जिनकी कविताएँ पढ़ते समय मैं यह अनुभव कर सकूँ कि मैं उनके साथ काँधा से काँधा मिलाकर चल सकता हूँ, जिनके पाँवों को वही दूब सहलाती, वही काँटे चुभते-खरोंचते, वही कंकड़-पत्थर ठुकराते-चोट देते जो मेरे पाँवों को।) इतना मानने से मुझमें कोई हीन भावना नहीं जागती कि उनकी सुख-दुःख-अनुभूति मुझसे तीव्र होती होगी, तभी तो वह अभिव्यक्त होने को विवश और सह एवं सम अनुभूति जगाने में समर्थ होती होगी। वैसे अनुभूति को नापने का कोई आला नहीं है, न साहित्य के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है। (साहित्य के क्षेत्र की तीव्रानुभूति वही है, जो अभिव्यक्ति पा तीव्रानुभूति जगाने में समर्थ हो। इसीके दूसरे नाम आनंद और रस भी हैं। कुछ लोग कह सकते हैं कि इस प्रभाव को उत्पन्न करने के लिए तीव्रानुभूति नहीं, काव्य-कला में विदग्धता की आवश्यकता है। इसमें संदेह नहीं कि काव्य-कला की विदग्धता अनुभूति की क्षमता को भी बहुत बढ़ा देगी, लेकिन अनुभूति की विदग्धता वक्ता और श्रोता के बीच जिन सूक्ष्म तंतुओं का सृजन करती है, अभिव्यंजन को जिस पूजन-अर्चन अथवा यजन का रूप देती है, वह वाणी की विदग्धता से संभव नहीं।) एक से 'रामचरितमानस' का जन्म होता है, दूसरे से 'रामचन्द्रिका' तैयार होती है। संक्षेप में (यह निर्णय पाठक को ही देना है कि किसी कवि की रचना जो अनुभूतियाँ जगाती है, उनका उसकी अपनी अनुभूतियों से कितना संबंध है, साम्य है, और इन अनुभूतियों की चेतना उसे कितना रस देती है, उसका कितना परिष्कार-संस्कार करती है।)

'मिलन यामिनी' के गीत प्रकाशित कर देने के बाद मेरे मन में एक भाव बड़े वेग से उठने लगा कि जीवन की जिस ललक को तरह-तरह के विरोधों के बीच मैंने वाणी दी है उसके मूल स्रोत को अवगाहूँ और देखूँ कि क्या केवल राग के आधार पर जीवन का कोई सम्यक् दर्शन निरूपित किया जा सकता है। यह एक लंबी कविता का विषय था, जिसके लिए मेरे जीवन की परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं, मैंने गीतों की श्रृंखला का आश्रय लिया। अनुमान किया, कोई तीन सौ गीतों में अपने को व्यक्त कर सकूँगा। ५९ गीत प्रस्तुत संग्रह में हैं, १०० गीत 'आरती और अंगारे' में हैं जो इसी श्रृंखला के अंतर्गत हैं। कुछ गीत मेरे पास अप्रकाशित हैं।

सब गीत लिखे जा चुकें और मैं उन्हें एक निश्चित क्रम में रख सकूँ तब मेरा ध्येय स्पष्ट हो सकेगा। अभी तो प्रत्येक गीत को सर्वतंत्र स्वतंत्र इकाई मानकर ही इनका आनंद लिया जा सकता है। इस संबंध में मैं कुछ विस्तार से 'आरती और अंगारे' के प्रथम संस्करण की भूमिका में लिख चुका हूँ, जो उसके दूसरे संस्करण में भी दी गई है। मैं अपने पाठकों से अपनी रचनाओं को किसी विशेष क्रम में पढ़ने का आग्रह नहीं करता। किसी भी रचना से रुचि जाग जाए तो उसके आगे-पीछे देखने की आकांक्षा स्वाभाविक है। यहाँ केवल एक सुझाव देना चाहूँगा, यदि 'प्रणय पत्रिका' आपके मन का कोई कोना छूती है तो 'आरती और अंगारे' को भी देखें। इसके कुछ और पीछे जाने का विचार हो तो 'मिलन यामिनी' और 'सतरंगिनी' देखें। उसके पूर्व का प्रत्यक्ष और परोक्ष से मेरा प्रमुख संघर्ष क्रमशः 'मधुकलश' और 'एकांत संगीत' में है। 'मधुशाला' उस उल्लास की प्रथमाभिव्यक्ति है जिससे मनुष्य बहुत दिनों से वंचित रखा गया है, जिसके लिए वह आज लालायित हो उठा है। 'मधुशाला' की माँग, प्यास, लोकप्रियता के पीछे मैं तो यही रहस्य देखता हूँ। इसकी सरलता, संगीतात्मकता, चित्रमयता, आदि गौण हैं। मानव-जीवन की किसी अनिवार्य माँग, दुर्निवार पुकार के बिना इस छोटी-सी रचना का केवल अपने बल पर चौथाई शताब्दी तक टिकी रहना असंभव था। पठन का यह क्रम, मैं फिर कहूँगा, मेरा सुझाव भर है। इसे परिवर्तित करने या उसे बिलकुल छोड़ देने का पूरा अधिकार पाठक को है। एक रचना से दूसरी रचना की संगति बिठलाने का काम समालोचक का है जो पाठकों में, एक तरह से यह अच्छा ही है कि अधिक नहीं होते।

इसलिए उचित है कि मैं केवल इस पुस्तक या इसके गीतों की चर्चा आपसे करूँ जो आपके हाथ में है। गीत की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह अपने आपमें परिपूर्ण है। उसके लिए किसी संदर्भ-प्रसंग की आवश्यकता नहीं है। जीवन के असंख्य तारों वाली वीणा पर गीतकार केवल एक को चुनकर उसपर ठुनकी लगाता है। उसकी सफलता इसीमें है कि उसकी प्रथम ठुनकी से ही श्रोता का हृदय प्रतिध्वनित हो उठे। और उसी तार पर इनी-गिनी ठुनकियाँ देते हुए, कम से कम समय में, वह एक पूरी गत बजा दे। गीत समाप्त हो जाए पर उसकी गूँज श्रोता के कानों

में बस जाए, और बहुत-सी अनुगूंजें जगाए। (आदर्श गीत सदा को कानों में बस जाता है। जग-जीवन की विभिन्न हलचलों के बीच वह ध्यान से भले ही उतर जाए पर सहसा यदि उसकी याद आ जाए तो वह अपने पूरे आवेग से फिर गूँज उठे।) ऐसे गीतों की निधियाँ हर संस्कृत व्यक्ति सँजोए रहता है। क्योंकि ये गीत रस हैं, रस की वर्षा करते हैं, मनुष्य को रसग्राही बनाते हैं। रस जीवन की सहज-स्वाभाविक आवश्यकता है। सब अनुभव करते हैं। कारण का विश्लेषण हमें दर्शन की भूमि पर ले जाएगा जहाँ इस समय मैं नहीं उतरना चाहता। अपने हृदय से पूछ लीजिए कि ऐसा होता है या नहीं। आप मुझसे असहमत नहीं हो सकेंगे।

ऊपर मैंने जिन असंख्य तारों की वीणा की चर्चा की है वह भावों या भावनाओं की वीणा है। संसार का शायद ही कोई अनुभव हो जो भावनाओं के स्तर पर न उतारा जा सके। जिस दिन कवि ने अभावों को भी भावों के स्तर पर उतार दिया उस दिन उसकी सबसे बड़ी विजय हुई थी :

'एक अभावों की घड़ियों में
भाव-भरा मै बोला'

(मैं से तात्पर्य बच्चन से नहीं, कवि से है)। कवि कितने अनुभवों को भावों की तरल, कोमल, सूक्ष्म, भूमि पर उतार सकेगा, यह उसकी संवेदनशीलता पर निर्भर होगा। फिर भी संसार के बड़े से बड़े गीतकारों का क्षेत्र सीमित ही होकर रह गया है (शायद कवि की सवेदनशीलता जब चरम सीमा पर पहुँचती है, उस समय विविधता में रुचि नहीं रह जाती, वह कुछ थोड़े-से तारों से ही सबके हृदयों को झनझना देता है।)

गीतकार के लिए आत्मानुभूति आवश्यक है। अनुभूति को स्थूल घटनाओं तक सीमित रखना ठीक नहीं। वह कल्पना में जो जीता, बरतता, रहता-सहता, सँजोता वह भी अनुभूति का सूक्ष्म रूप है। उससे कवि को वंचित करके हम उसको उस कला से ही वंचित कर देंगे जिससे वह अपनी अनुभूतियों में औरों को साझीदार बनाता है। उसको व्यक्तिगत अनुभूतियों की सच्चाई की क़सम खाने की जरूरत नहीं, उनकी सच्चाई का सबूत केवल यह है कि उनसे जिस भाव-राग का सृजन होता है उनकी प्रतिध्वनियाँ दूसरों के हृदय से आती हैं। इतना मैं अवश्य

कहूँगा, और मैं समझता हूँ इससे सभी सहमत होंगे, कि (यदि कवि का जीवन सक्रिय है तो उसे अनुभूतियों के अधिक अवसर मिलेंगे और साथ ही कल्पना के भी। समय-समय की अनुभूति और कल्पना पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी और वह उसका क्या उपयोग करेगा यह कवि के जीवन की स्थिति और विकास पर निर्भर करेगा।)

कवि को जीवन के इस मूल को कभी नहीं छोड़ना है। मैं तो इस सीमा तक जाने को भी तैयार हूँ कि चाहे वह जीवन का मूल पकड़ने के कारण अपने अनुभवों में एकाकी ही क्यों न हो जाए। वैसे मेरा विश्वास है कि संवेदनशील व्यक्ति का नितांत एकांत-एकाकी अनुभव भी एकांत-एकाकी नहीं रह सकता। यदि उससे भाव और राग की उत्पत्ति होती है तो उसीके सहारे वह दूसरों को अपना अनुभव भी दे सकता है। साधारण मनुष्य इतना निर्मम, शुष्क या अग्रहणशील नहीं जितना प्रायः कवि उसे समझते हैं। वह औरों के अनुभवों का भागीदार बनने को उत्सुक रहता है। कवि को अपने पाठकों में विश्वास रखना चाहिए और अपनी सीमा, क्षमता और त्रुटियों का भी ध्यान रखना चाहिए।

तो मैं तो इसे सौभाग्य ही मानता हूँ कि सृजन के एक नए उन्मेष में अनुभूति और कल्पना का एक नया क्षेत्र सहसा मेरे सामने खुल गया। एक दिन दोपहर को भारत में हूँ, दूसरे दिन प्रातःकाल इंग्लैंड में हूँ। बिदा का दृश्य अब तक याद है :

पुष्प गुच्छ माला दी सबने, तुमने अपने अश्रु छिपाए।
पहली ही मंजिल पर सारे
फूल और कलियाँ कुम्हलाईं,
मुर्झाए कुसुमों पर किसने
आज तलक ममता दिखलाई,
कलक बहुत हो उनकी, फिर भी
अलग उन्हें करना पड़ता है,
सुधि के अंग बने वे जलकण जो कि तुम्हारे दृग में आए।

ऊपर से नीचे देखने की उत्सुकता ने चौबीस घंटे हवाई जहाज में पलक ही न झँपने दी। नीचे का जो चित्र स्मृति ने सँजोया था उसपर होता हुआ मन न

जाने कितनी बार घर लौटने को आकुल हुआ :

हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।
समतल भू-तल, बत्ती की पाँतों के पहरे
में सुप्त नगर,
अंबर को दर्पण दिखलाते सरवर, सागर,
मधुबन, बंजर
हिम-तरु-मंडित, नंगी पर्वत-माला, मरुथल
जंगल, दलदल—
सबकी दुर्गमता के ऊपर मुस्काता हूँ।

और इंग्लैंड की धरती पर जब पाँव रखे तो वहाँ सब कुछ अपरिचित था—अपरिचित प्रकृति, अपरिचित वातावरण, अपरिचित लोग। एक कविता में कैम नदी पर अकेले तैरते एक हंस को देखकर मैंने उससे पूछा—

कौन सरसी को अकेली और सहमी
छोड़ तुम आए यहाँ हो, कुछ बताओ।
इस तरफ़ से रोज़ आना, रोज़ जाना
आज सालों से लगा मेरा बराबर,
याद पड़ता है नहीं लेकिन कि देखा
है कभी पहले तुम्हें मैंने यहाँ पर,
यह अचंभे की नज़र हर कंज, दल पर
तृण, लहर पर और चेहरे की उदासी,
जो छिपाने से नहीं छिपती, बताती
है, यहाँ के वास्ते तुम हो प्रवासी;

और उस प्रवास में अनुभूति, स्मृति, कल्पना की जिन वीथियों में स्वाभाविक मेरा मन रम सकता था उनमें मेरी वाणी के पद प्रतिध्वनित हुए। मुझे तो नहीं मालूम कि उससे पूर्व हिंदी के किसी कवि ने ऐसे वातावरण में बैठ, ऐसी मनःस्थिति में गीत लिखे थे। प्रवास के अंतर्बाह्य नूतन परिवेश में लिखे इन गीतों में नवीनता और विशिष्टता का होना स्वाभाविक था, जो मेरा विश्वास है, मेरे

भावप्रवण पाठकों से अलक्षित नहीं रही। (मेरी नई अनुभूतियों, नई परिस्थितियों ने मेरे पाठकों को मेरे गीतों के निकट आ सकने से रोका हो तो मैं उन्हें अपनी त्रुटि के अतिरिक्त और क्या मानूँगा।) स्वाभाविक तो यही था कि उनके कारण—नवीन आकर्षण सबके लिए होता है—वे मेरे गीतों की ओर अधिक झुकते, खिंचते।

हर गीत के पीछे जो अनुभूति, स्मृति अथवा कल्पना है उसे बतलाने की मेरी इच्छा नहीं ; हालाँकि इसकी जिज्ञासा भी प्रायः पाठकों को होती है। ऐसे प्रश्न प्रायः पूछे गए हैं, यह गीत आपने कब लिखा, कहाँ लिखा, किसके लिए लिखा, किस मनोदशा में लिखा। ऐसी जिज्ञासाएँ जगाने की क्षमता भी गीत का गुण और उसकी सफलता ही मानी जानी चाहिए। इनका उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन मैं अपने पाठकों को बतलाना चाहूँगा कि किसी निश्चित उत्तर से उनकी अपनी कल्पना उन्हें अधिक संतोष और आनंद देगी। (गीत लिखने का लक्ष्य ही यही था कि अपनी जीवनगत वस्तुस्थितियों को न्यूनतम किया जाए, जिससे औरों के लिए इन गीतों को अपना समझना संभव हो सके। वर्ना दैनिकी लिखना कठिन न होता, न गद्य को कलापूर्ण बनाना ही।)

मैंने 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' के गीतों में स्थान-तिथि का निर्देश नहीं किया। पहले के संग्रहों में भी नहीं किया। फिर भी दोनों के १५६ गीतों में १०० प्रवास में लिखे गीत हैं। कल्पनाप्रवण पाठक के लिए यह बता देना असंभव नहीं कि कौन गीत विदेश में लिखे गए होंगे। शब्द स्वयं बड़े ग्रहणशील होते हैं और अपने चारों ओर के वातावरण को बड़ी सूक्ष्मता से पकड़ लेते हैं। वे तो लेखनी के आँसू जैसे हैं :

'रहिमन' अँसुआ नयन ढरि जिय दुख प्रगट करेइ,
जाहि निकारे गेह ते कस न भेद कहि देइ।

जड़ लेखनी के भेद ही क्या होंगे, वे लेखनी पकड़नेवाले का सारा भेद खोल देते हैं। यदि मेरे शब्द भावद्रवित अश्रुबिंदु हैं तो मेरा बहुत कुछ राज़ खोलेंगे, पर क्या वह राज़ मेरा ही होगा ?

एक दूसरे पर हँसने का
वक़्त कभी था, आज नहीं है,

राज़ तुम्हारा मेरा जो क्या
मानवता का राज़ नहीं है?
दुर्बलताएँ प्रायः दिल की
परवशताएँ ही होती हैं,
तुम भी अपनी आँख भिगोलो, मैं भी अपनी आँख भिगोलूँ।
तुम अपने जीवन की गाँठें खोलो संगिनि, मैं भी खोलूँ।

अंत में, इन गीतों के संबंध में यदि आपको कोई कौतूहल हो तो उसे आप मुझपर प्रकट करने में संकोच न करें। मैं आपका समाधान करने का प्रयत्न करूँगा।

१३, विलिंग्डन क्रिसेंट, —बच्चन
नई दिल्ली-११
३-४-१९६०

गीतों की प्रथम पंक्ति-सूची

प्रणाय पत्रिका

१

क्या गाऊँ जो मैं तेरे मन को भा जाऊँ।

प्राची के वातायन पर चढ़
प्रात किरन ने गाया,
लहर-लहर ने ली अंगड़ाई
बंद कमल खिल आया,
मेरी मुसकानों से मेरा
मुख न हुआ उजियाला,
आशा के मैं क्या तुझको राग सुनाऊं।
क्या गाऊँ जो मैं तेरे मन को भा जाऊँ।

पकी बाल, विकसे सुमनों से
लिपटी शबनम् सोती,
धरती का यह गीत, निछावर
जिसपर हीरा-मोती,
सरस बनाना था जिनको वे,
हाय, गए कर गीले,
कैसे आंसू से भीगे साज बजाऊं।
क्या गाऊँ जो मैं तेरे मन को भा जाऊं।

सौरभ के बोझे से अपनी
चाल समीरण साधे,
कुछ न कहो इस वक्त उसे, वह
स्वर्ग उठाए काँधे,
बंधी हुई मेरी कुछ साँसों
से भी मीठी सुधियाँ,
जो बीत चुकी क्या उसकी याद दिलाऊँ।
क्या गाऊँ जो मैं तेरे मन को भा जाऊँ।

भरा-पुरा जो रहा जगत में
उसने ही मुँह खोला,
एक अभावों की घड़ियों में
भाव-भरा मैं बोला,
इसीलिए जब गाता हूँ मैं
मौन प्रकृति हो जाती,
लौकिक सुख चाहे दैवी पीर जगाऊँ।
क्या गाऊँ जो मैं तेरे मन को भा जाऊँ।

२

भावाकुल मन की कौन कहे मजबूरी।

बोल उठी है मेरे स्वर में
तेरी कौन कहानी,
कौन जगी मेरी ध्वनियों में
तेरी पीर पुरानी,
अंगों में रोमांच हुआ, क्यों
कोर नयन के भीगे,
भावाकुल मन की कौन कहे मजबूरी।

मैंने अपना आधा जीवन
गाकर गीत गँवाया,
शब्दों का उत्साह पदों ने
मेरे बहुत कमाया,
मोती की लड़ियाँ तो केवल
तूने इनपर वारीं,
निर्धन की झोली आज गई भर पूरी।
भावाकुल मन की कौन कहे मजबूरी।

क्षणभंगुर होता है जग में
यह रागों का नाता,
सुखी वही है जो बीती को
चलता है बिसराता,
और दुखी है पूर्ति ढूंढ़ता
जो अपनी साधों की,
रह जाती हैं जो उर के बीच अधूरी।
भावाकुल मन की कौन कहे मजबूरी।

गूंजेगा तेरे कानों में
मेरा गीत नशीला,
झूलेगा मेरी आँखों में
तेरा रूप रसीला,
मन सुधियों के स्वप्न बुनेंगे
लेकिन सच तो यह है,
दोनों में होगी सौ दुनिया की दूरी।
भावाकुल मन की कौन कहे मजबूरी।

३

तुम छेड़ो मेरी बीन कसी, रसराती।

बंद किवाड़े कर-कर सोए
सब नगरी के बासी,
वक़्त तुम्हारे आने का यह,
मेरे राग - विलासी,
आहट भी प्रतिध्वनित तुम्हारी
इसपर होती आई,
तुम छेड़ो मेरी बीन कसी, रसराती।

इसके गुण-अवगुण बतलाऊँ?
क्या तुमसे अनजाना?
मिला मुझे है इसके कारण
गली-गली का ताना,
लेकिन बुरी-भली, जैसी भी,
है यह देन तुम्हारी,
मैंने तो सेई एक तुम्हारी थाती।
तुम छेड़ो मेरी बीन कसी, रसराती।

तुम पैरों से ठुकरा देते
यह बलि-बलि हो जाती,
कहाँ तुम्हारी छाती की भी
धड़कन यह सुन पाती,
और चुकी है चूम उँगलियाँ
मधु बरसानेवाली,
अचरज क्या इतनी आज बनी मदमाती।
तुम छेड़ो मेरी बीन कसी, रसराती।

मेरी उर-वीणा पर तुम जो
चाहो राग उतारो,
उसके जिन भावों-भेदों को
तुम चाहो उद्गारो,
जिस परदे को चाहो खोलो,
जिसको चाहो मूँदो,
यह आज नहीं है दुनिया से शरमाती।
तुम छेड़ो मेरी बीन कसी, रसराती।

४

सुर न मधुर हो पाए, उर की वीणा को कुछ और कसो ना।
मैंने तो हर तार तुम्हारे
हाथों में, प्रिय, सौंप दिया है,
काल बताएगा यह मैंने
ग़लत किया या ठीक किया है,
मेरा भाग समाप्त मगर
आरंभ तुम्हारा अब होता है,
सुर न मधुर हो पाए, उर की वीणा को कुछ और कसो ना।

जगती के जय-जयकारों की
किस दिन मुझको चाह रही है,
दुनिया के हंसने की मुझको
कौड़ी भर परवाह नहीं है,
लेकिन हर संकेत तुम्हारा
मुझे मरण, जीवन, कुछ दोनों
से भी ऊपर, तुम तो मेरी त्रुटियों पर इस भांति हंसो ना।
सुर न मधुर हो पाए, उर की वीणा को कुछ और कसो ना।

मैं हूँ कौन कि धरती मेरी
भूलों का इतिहास बनाए,
पर मुझको तो याद कि मेरी
किन-किन कमियों को बिसराए
वह बैठी है, और इसीसे
सोते और जागते मैंने
कभी नहीं बख़्शा अपने को, आज मुझे तुम भी बख़्शो ना।
सुर न मधुर हो पाए, उर की वीणा को कुछ और कसो ना।

तुमपर भी आरोप कि मेरी
झंकारों में आग नहीं है,
जिसको छू जग जाग न उठता
वह कुछ हो, अनुराग नहीं है,
तुमने मुझे छुआ, छेड़ा भी
और दूर के दूर रहे भी,
उर के बीच बसे हो मेरे सुर के भी तो बीच बसो ना।
सुर न मधुर हो पाए, उर की वीणा को कुछ और कसो ना।

५

राग उतर फिर-फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है।
बीत गया युग एक तुम्हारे
मंदिर की ड्योढ़ी पर गाते,
पर अंतर के तार बहुत-से,
शब्द नहीं झंकृत कर पाते,
एक गीत का अंत दूसरे
का आरंभ हुआ करता है,
राग उतर फिर-फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है।

अपने मन को जाहिर करने
का दुनिया में बहुत बहाना,
किंतु किसी में माहिर होना,
हाय, न मैंने अब तक जाना,
जब-जब मेरे उर में, सुर में
द्वंद हुआ है, मैंने देखा,
उर विजयी होता, सुर के सिर हार मढ़ी ही रह जाती है।
राग उतर फिर-फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है।

भाषा के उपहार करेंगे
व्यक्त न मेरी आश-निराशा,
सोच बहुत दिन तक मैं बैठा
मन को मारे, मौन बना-सा,
लेकिन तब थी हालत मेरी
उस पगलाई-सी बदली की,
बिन बरसे-बरसाए नभ में जो उमड़ी ही रह जाती है।
राग उतर फिर-फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है।

चुप न हुआ जाता है मुझसे
और न मुझसे गाया जाता,
धोखे में रखकर अपने को
और नहीं बहलाया जाता,
शूल निकलने-सा सुख होता
गान गुँजाता जब अंबर में,
लेकिन दिल के अंदर कोई फाँस गड़ी ही रह जाती है।
राग उतर फिर-फिर जाता है, बीन चढ़ी ही रह जाती है।

६

बीन, आ छेड़ूँ तुझे, मन में उदासी छा रही है।

लग रहा जैसा कि मुझसे
आज सब संसार रूठा,
लग रहा जैसे कि सबकी
प्रीति झूठी, प्यार झूठा,
और मुझ-सा दीन, मुझ-सा
हीन कोई भी नहीं है,
बीन, आ छेड़ूँ तुझे, मन में उदासी छा रही है।

दोष, दूषण, दाग़ अपने
देखने जब से लगा हूँ,
जानता हूँ मैं किसीका
हो नहीं सकता सगा हूँ,
और कोई क्यों बने मेरा,
करे परवाह मेरी,
तू मुझे क्या सोच अपनाती रही, अपना रही है?
बीन, आ छेड़ूँ तुझे, मन में उदासी छा रही है।

हो अगर कोई न सुनने
को, न अपने आप गाऊँ ?
पुण्य की मुझमें कमी है,
तो न अपने पाप गाऊँ ?
और गाया पाप हो तो
पुण्य का पहला चरण है,
मौन जगती किन कलंकों को छिपाती आ रही है।
बीन, आ छेड़ूँ तुझे, मन में उदासी छा रही है।

था तुझे छूना कि तूने
भर दिया झंकार से घर,
और मेरी साँस को भी
सात स्वर के लग चले पर,
अब अवनि छू लूँ, गगन छू लूँ
कि सातों स्वर्ग छू लूँ,
सब मुझे आसान मेरे साथ जो तू गा रही है।
बीन, आ छेड़ूँ तुझे, मन में उदासी छा रही है।

७

आज गीत मैं अंक लगाए, भू मुझको, पर्यंक मुझे क्या।

खंडित - सा मैं घूम रहा था
जग - पंथों पर भूला - भूला,
तुमको पाकर पूर्ण हुआ मैं
आज हृदय - मन फूला - फूला,
फूलों की वह सेज कि जिसपर
हम - तुम देखें स्वप्न सुनहले,
आज गीत मैं अंक लगाए, भू मुझको, पर्यंक मुझे क्या।

धन्य हुए वे तृण, कुश, काँटे
जिनपर हमने प्यार बगेरे,
यहाँ बिछा जाएँगे मोती
प्रेयसि औ' प्रियतम बहुतेरे,
और गिरा जाएँगे आँसू
विरही आकर चुपके - चुपके,
मैं अंदर जाँचा करता हूँ, बाहर नरपति-रंक मुझे क्या।
आज गीत मैं अंक लगाए, भू मुझको, पर्यंक मुझे क्या।

वे अपना ही रूप बिसारे
जो हैं हमपर हँसनेवाले,
मैं उनको पहचान रहा हूँ
एक नगर के बसनेवाले,
हम प्रतिध्वनि बनकर निकलेंगे
कभी इन्हीं के वक्षस्थल से,
मैं जीवन की गति-रति अथकित-अविजित, कीर्ति-कलंक मुझे क्या।
आज गीत में अंक लगाए, भू मुझको, पर्यंक मुझे क्या।

कवि के उर के अंतःपुर में
वृद्ध अतीत बसा करता है,
कवि की दृग-कोरों के नीचे
बाल भविष्य हँसा करता है,
वर्तमान के प्रौढ़ स्वरों से
होता कवि का कंठ निनादित,
तीन काल पद-मापित मेरे, क्रूर समय का डंक मुझे क्या।
आज गीत में अंक लगाए, भू मुझको, पर्यंक मुझे क्या।

सो न सकूंगा और न तुझको सोने दूंगा, हे मन-बीने।
इसीलिए क्या मैंने तुझसे
साँसों के सम्बन्ध बनाए,
मैं रह-रहकर करवट लूँ तू
मुख पर डाल केश सो जाए,
रैन अंधेरी, जग जा गोरी,
माफ़ आज की हो बरजोरी
सो न सकूंगा और न तुझको सोने दूंगा, हे मन-बीने।

सेज सजा सब दुनिया सोई
यह तो कोई तर्क नहीं है,
क्या मुझमें-तुझमें, दुनिया में
सच कह दे, कुछ फ़र्क़ नहीं है,
स्वार्थ-प्रपंचों के दुःस्वप्नों
में वह खोई, लेकिन मैं तो
खो न सकूंगा और न तुझको खोने दूंगा, हे मन-बीने।
सो न सकूंगा और न तुझको सोने दूंगा, हे मन-बीने।

जाग छेड़ दे एक तराना
दूर अभी है भोर, सहेली,
जगहर सुनकर के भी अक्सर
भग जाते हैं चोर, सहेली,
सधी-बदी-सी चुप्पी मारे
जग लेटा लेकिन चुप मैं तो
हो न सकूँगा और न तुझको होने दूँगा, हे मन-बीने।
सो न सकूँगा और न तुझको सोने दूँगा, हे मन-बीने।

गीत चेतना के सिर कलँगी,
गीत खुशी के मुख पर सेहरा,
गीत विजय की कीर्ति पताका,
गीत नींद ग़फ़लत पर पहरा,
पीड़ा का स्वर आँसू लेकिन
पीड़ा की सीमा पर मैं तो
रो न सकूँगा और न तुझको रोने दूँगा, हे मन-बीने।
सो न सकूँगा और न तुझको सोने दूँगा, हे मन-बीने।

९

एक यही अरमान गीत बन, प्रिय, तुमको अर्पित हो जाऊँ।
जड़ जग के उपहार सभी हैं,
धार आँसुओं की बिन वाणी,
शब्द नहीं कह पाते तुमसे,
मेरे मन की मर्म कहानी,
उर की आग, राग ही केवल
कंठस्थल में लेकर चलता,
एक यही अरमान गीत बन, प्रिय, तुमको अर्पित हो जाऊँ।

जान-समझ मैं तुमको लूँगा—
यह मेरा अभिमान कभी था,
अब अनुभव यह बतलाता है—
मैं कितना नादान कभी था;
योग्य कभी स्वर मेरा होगा,
विवश उसे तुम दुहराओगे ?
बहुत यही है अगर तुम्हारे अधरों से परिचित हो जाऊँ।
एक यही अरमान गीत बन, प्रिय, तुमको अर्पित हो जाऊँ।

कितने सपने, कितनी आशा,
कितने आयोजन, आकर्षण,
बिखर गया है सब के ऊपर
टुकड़े-टुकड़े होकर जीवन,
सिर पर सफ़र खड़ा है लंबा,
फैला सब सामान पड़ा है,
अंतर्ध्वनि का तार मिले तो एक जगह संचित हो जाऊँ।
एक यही अरमान गीत बन, प्रिय, तुमको अर्पित हो जाऊँ।

नीरवता का सागर तर कर
मैं था जगती-तट पर आया,
और यहाँ से कूच करूँगा
उसने फिर जिस रोज़ बुलाया,
हल्के होकर चलते जिनके
भाव तराने बन जाते हैं,
मैं अपने सब सुख-दुख लेकर एक बार मुखरित हो जाऊँ।
एक यही अरमान गीत बन, प्रिय, तुमको अर्पित हो जाऊँ।

१०

अर्पित तुमको मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा।

पंख उगे थे मेरे जिस दिन
तुमने कंधे सहलाए थे,
जिस-जिस दिशि-पथप र मैं विहरा
एक तुम्हारे बतलाए थे,
विचरण को सौ ठौर, बसेरे
को केवल गलबाँह तुम्हारी,
अर्पित तुमको मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा।

ऊंचे-ऊँचे लक्ष्य बनाकर
जब-जब उनको छूकर आता,
हर्ष तुम्हारे मन का मेरे
मन का प्रतिद्वंदी बन जाता,
और जहाँ मेरी असफलता
मेरी विह्वलता बन जाती,
वहाँ तुम्हारा ही दिल बनता मेरे दिल का एक दिलासा।
अर्पित तुमको मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा।

नाम तुम्हारा ले लूं, मेरे
स्वप्नों की नामावलि पूरी,
तुम जिससे संबद्ध नहीं वह
काम अधूरा, बात अधूरी,
तुम जिसमें डोले वह जीवन,
तुम जिसमें बोले वह वाणी,
मुर्दा-मूक नहीं तो मेरे सब अरमान, सभी अभिलाषा।
अर्पित तुमको मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा।

तुमसे क्या पाने को तरसा
करता हूं कैसे बतलाऊँ,
तुमको क्या देने को आकुल
रहता हूं कैसे जतलाऊँ,
यह चमड़े की जीभ पकड़ कब
पाती है मेरे भावों को,
इन गीतों में पंगु स्वर्ग में नर्तन करनेवाली भाषा।
अर्पित तुमको मेरी आशा, और निराशा, और पिपासा।

११

मेरी तो हर साँस मुखर है, प्रिय, तेरे सब मौन सँदेसे।

एक लहर उठ-उठकर फिर-फिर
ललक-ललक तट तक जाती है,
किंतु उदासीना युग-युग से
भाव-भरी तट की छाती है,
भाव-भरी यह चाहे तट भी
कभी बढे, तो अनुचित क्या है ?
मेरी तो हर साँस मुखर है, प्रिय, तेरे सब मौन सँदेसे।

बंद कपाटों पर जा-जाकर
जो फिर-फिर साँकल खटकाए,
और न उत्तर पाए, उसकी
लाज-व्यथा को कौन बताए,
पर अपमान पिए पग फिर भी
उस ड्योढ़ी पर जाकर ठहरें,
क्या तुझमें ऐसा जो तुझसे मेरे तन-मन-प्राण बँधे-से।
मेरी तो हर साँस मुखर है, प्रिय, तेरे सब मौन सँदेसे।

ज़ाहिर और अज़ाहिर दोनों
विधि मैंने तुझको आराधा,
रात चढ़ाए आँसू, दिन में
राग रिझाने को स्वर साधा,
मेरे उर में चुभती प्रतिध्वनि
आ मेरी ही तीर सरीखी,
पीर बनी थी गीत कभी, अब गीत हृदय के पीर बने-से
मेरी तो हर साँस मुखर है, प्रिय, तेरे सब मौन सँदेसे।

मैं भी चुप हो जाऊँ, यह तो
मेरे बस की बात नहीं है,
अग-जग में क्या हो सकता है,
जो मुझपर आघात नहीं है,
पलक झँपी तारे की, तृण के
ऊपर ओस कली शरमाई,
झनकी मेरी बीन कि इतने मेरे जीवन-तार तने-से
मेरी तो हर साँस मुखर है, प्रिय, तेरे सब मौन सँदेसे।

१२

सुमुखि, कभी क्या मेरे जीवन के भी ऐसे दिन आएँगे ?
जैसे इस गिरि की गोदी में
एक बसा है नगर निराला,
घर, छप्पर, छत, बाग़-बग़ीचों,
गढ़, गुंबद, मीनारों वाला,
मानचित्र - सा मेरे आगे
मानव का उर फैला होगा ?
सुमुखि, कभी क्या मेरे जीवन के भी ऐसे दिन आएँगे ?

जैसे इस सागर के अंदर
बिंबित है सारा नभ - मंडल,
तारों की पलकों का झँपना,
किरणों का मुसकाना, बादल,
बिजली, तूफ़ानों की हलचल,
क्या मेरे भी अंतस्तल में
मानव के सुख, सूनेपन, दुख, दर्द कभी घर कर जाएँगे ?
सुमुखि, कभी क्या मेरे जीवन के भी ऐसे दिन आएँगे ?

है कड़ुआ अनुभव मानव का
यह जग-जीवन-काल अधूरा,
किंतु उसे मालूम नहीं है—
कौन, कहाँ, कब होगा पूरा,
जिसके हित बेचैन रहा वह,
जिसके हित बेचैन रहेगा,
एक झलक भी उसकी मेरे स्वप्न कभी क्या दिखलाएँगे ?
सुमुखि, कभी क्या मेरे जीवन के भी ऐसे दिन आएँगे ?

जैसे गरुड़ गगन में उड़ता
महाकाव्य-सा लिखता जाता,
जैसे हंस सलिल पर तिरता
लघु लहरों की पंक्ति बनाता,
लिपि-अंकित संगीत प्रकृति का
करता; सहज स्वरों से मेरे
गीत निकल अंतर-अंतर में ध्वनित कभी क्या हो पाएँगे ?
सुमुखि, कभी क्या मेरे जीवन के भी ऐसे दिन आएँगे ?

१३

क्या मेरा है जो आज नहीं है तेरा।

मेरी अंजलि के कुसुमों में
प्रिय, तेरी गलमाला,
मेरे हाथों के दीपक से
तेरा घर उजियाला,
अगरु-गंध तेरे आँगन में
दग्ध हुआ उर मेरा,
क्या मेरा है जो आज नहीं है तेरा।

मेरा ध्यान, क्षितिज पर तेरे
संध्या की अरुणाई,
मेरी मौन समाधि कि तेरी
नींद - भरी तरुणाई,
जो सपनों का बोझ उतारे
निशि के पथ पर बैठी,
दूर मुक्ति मेरी यदि तेरा दूर अभी है डेरा।
क्या मेरा है जो आज नहीं है तेरा।

मेरी पलकों से ढल पड़ते
तरल-सरल जो मोती,
तू उनसे अपनी अलकों में
तारक पंक्ति सँजोती,
जो मेरा उच्छ्वास वही तो
तेरा मलय समीरण,
नीड़-निलय मेरे प्राणों का तेरा प्रणय बसेरा।
क्या मेरा है जो आज नहीं है तेरा।

मैं जागा या तूने अपने
सरसिज-से दृग खोले,
मेरा स्वर फूटा या तेरे
भाव - विहंगम बोले,
मेरा भाग्य - उदय है तेरी
ऊषा का वातायन,
अरुण किरण के शर हैं मेरे, तेरा सुभग सबेरा,
क्या मेरा है जो आज नहीं है तेरा।

१४

तुम अपने रँग में रँग लो तो होली है।

देखी मैंने बहुत दिनों तक
दुनिया की रंगीनी,
किंतु रही कोरी की कोरी
मेरी चादर भीनी,

तन के तार छुए बहुतों ने
मन का तार न भीगा,

तुम अपने रँग में रँग लो तो होली है।

अंबर ने ओढ़ी है तन पर
चादर नीली-नीली,
हरित धरित्री के आँगन में
सरसों पीली-पीली,

सिंदूरी मंजरियों से है
अंबा शीश सजाए,

रोलीमय संध्या ऊषा की चोली है।
तुम अपने रँग में रँग लो तो होली है।

लगा हुआ है जगत-प्रकृति में
जब रंगों का मेला,
कैसे अपनी ओर न देखे
सबके बीच अकेला,
मुझे अलग करती है जग से
मेरी मलिन उदासी,
मेरी चिरसंगिनि सुधियों की झोली है।
तुम अपने रँग में रँग लो तो होली है।

तुम अपने में रँग लो तो मैं
बीती बात भुलाऊँ,
प्रेम, रूप, जीवन, यौवन का
सबको गीत सुनाऊँ,
अंतर में वह पैठ सकेगा
जो अंतर से निकला,
मेरी तो मेरे मानस की बोली है।
तुम अपने रँग में रँग लो तो होली है।

१५

झुरमुट में अटका चाँद, कही अटका मन मेरा भी।
दिन डूबा, दिन के साथ जगत्
का कोलाहल डूबा,
कुछ मतलब रखता है अब तो
मेरा भी मंसूबा,
तारे मेरे मन की गलियों
में दीप जलाते हैं,
मेरे भावों में रँग भरता गोधूलि अँधेरा भी।
झुरमुट में अटका चाँद, कही अटका मन मेरा भी।

लहरों से लड़ना छोड़ किनारे
[illegible] केवट आ जा,
तेरी रानी आतुर है तुझको
कहने को राजा,
किस राजमहल से कम है तेरी
राम झोपड़िया रे,
तृण-पत्तों से निर्मित पंछी का रैन बसेरा भी।
तरुवर में अटका चाँद, कहीं अटका मन मेरा भी।

मिनटों का घंटा, घंटों का दिन
बीत चुका, भाई,
अब दीर्घ युगों के ऊपर लघु
क्षण - पल ने जय पाई,
किस दूर बसे प्रियतम के ऊपर
अब हो पछतावा,
सब संसृति सकता बाँध सरस बाँहों का घेरा भी।
अंबर में अटका चाँद, कहीं अटका मन मेरा भी।

मीठी सुधियों की घड़ियाँ
कितनी छोटी होती हैं,
शबनम कितने सपनों की
सब रंगीनी धोती है,
ऊषा कितने होठों की लाली
हर ले जाती है,
धुंधली करता कितने नयनों की ज्योति सवेरा भी।
किरणों में अटका चाँद, कहीं अटका मन मेरा भी।

१६

नहीं बिसरते हैं बिसराए, तेरे नयन सनीर, लजीले ।
झलक उठा जिनमें वह सब जो
सोच-सोच मन कदराता था,
ललक उठा जिनमें वह सब जो
नहीं अधर पर आँ पाता था,
टपक पड़ा जिनसे वह जिसको
जग-मर्यादा बाँध रही थी,
नहीं बिसरते हैं बिसराए, तेरे नयन सनीर, लजीले ।

दूर क्षितिज तक फैले नीले,
शात जलधि के गीले तट पर,
प्रात-किरण से उतरा करतीं
जो बूँदें उनकी आहट पर,
और झुके घन से जब मोती
की लड़ियाँ धरती को छूतीं,
बिंबित मेरे दृग में होते, प्रिय, तेरे आँसू चमकीले ।
नहीं बिसरते हैं बिसराए, तेरे नयन सनीर, लजीले ।

नहीं समाती सिंधु-सतह पर
तेरे अश्रु - कणों की गाथा,
ओस नहीं दुहरा पाती जो
तूने रहकर मौन कहा था,
लाख प्रयत्न गगन के केवल
असफल होने को होते हैं,
द्रवित सभी कुछ लज्जित करते हैं तेरे लोचन शर्मीले।
नहीं बिसरते हैं बिसराए, तेरे नयन सनीर, लजीले।

एक ध्यान आता है, सागर
आँखों से ओझल हो जाता,
सार तुषार लिए है क्या जो
क्षण भर को भी थिर हो पाता,
एक हवा का झोंका खाकर
बादल फटते, बादल कटते,
अनगिन आहों में पर अनडिग हैं, प्रिय, तेरे नेत्र हठीले।
नहीं बिसरते हैं बिसराए, तेरे नयन सनीर, लजीले।

१७

पुष्प-गुच्छ-माला दी सबने, तुमने अपने अश्रु छिपाए।

एक चला नक्षत्र गगन में
और विदा की आई वेला,
और बढ़ा अनजान सफ़र पर
लेकर मैं सामान अकेला,
और तुम्हारा सबसे न्यारा-
पन मैंने उस दिन पहचाना,
पुष्प-गुच्छ-माला दी सबने, तुमने अपने अश्रु छिपाए।

रस्म सदा से जो चल आई
अदा उसे करना मुश्किल था,
किसको इसका भेद मिला है
मुंह क्या बोल रहा है, दिल क्या,
पिघले मन के साथ मगर था
जारी यह संघर्ष तुम्हारा,
शकुन समय अशकुन का आंसू पलक-पुटों से ढलक न जाए।
पुष्प-गुच्छ-माला दी सबने, तुमने अपने अश्रु छिपाए।

पहली ही मंज़िल पर सारे
फूल और कलियाँ कुम्हलाईं,
मुर्झाए कुसुमों पर किसने
आज तलक ममता दिखलाई,
कलक बहुत हो उनकी, फिर भी
अलग उन्हें करना पड़ता है,
सुधि के अंग बने वे जलकण जो कि तुम्हारे दृग में छाए।
पुष्प-गुच्छ-माला दी सबने, तुमने अपने अश्रु छिपाए।

एक बूंद की अगणित बूंदें
अगणित बूंदों की बन धारा
आज मुझे ऐसा घेरे है
सूझ न पड़ता कूल-किनारा
और एक हल्की नैया-सा
जीवन डगमग-डगमग करता,
बहा चला जाता है उसमें, पार लगाए या कि डुबाए।
पुष्प-गुच्छ-माला दी सबने, तुमने अपने अश्रु छिपाए।

१८

एक दीप बाले तुम बैठीं, एक दीप बाले मैं बैठा।
ज्योति ज्योति की ओर चला
करती है त्रिभुवन के कोनों से,
ऐसा क्या अँधियाला है जो
कट न सकेगा हम दोनों से,
दो लौ मिलकर लपट नहीं,
अंगार नहीं, बिजली बनती है,
एक दीप बाले तुम बैठीं, एक दीप बाले मैं बैठा।

बड़भागी है दर्द बसाए
रह सकता है जिसका अंतर,
जो इससे वंचित हैं उनको
फूंको फूस-चिता पर धरकर,
दुख की मारी दुनिया को ये
क्या समझेंगे, समझाएँगे,
एक पीर पाले तुम बैठीं, एक पीर पाले मैं बैठा।
एक दीप बाले तुम बैठीं, एक दीप बाले मैं बैठा।

यह कवियों की उड़न कल्पना
अमृत बरसता देव-घरों में,
प्रिया और प्रियतम जब मिलते
रसता है उनके अधरों में,
और विरह में उनके नयनों
में झलका करता—उसका ही
एक घूंट ढाले तुम बैठी, एक घूंट ढाले मैं बैठा।
एक दीप बाले तुम बैठी, एक दीप बाले मैं बैठा।

प्रेम-जुए में पाते ही सब
लेके चाहे देके जाते,
प्राण लगे हों बाज़ी पर तो
पाँसे कब दो फेंके जाते,
निकल चुका फ़ैसला तुम्हारे
औ' मेरे हाथों से कब का--
एक दाँव डाले तुम बैठीं, एक दाँव डाले मैं बैठा।
एक दीप बाले तुम बैठीं, एक दीप बाले मैं बैठा।

नयन तुम्हारे चरण-कमल में अर्घ्य चढ़ा फिर-फिर भर आते।
कब प्रसन्न, अवसन्न हुए कब,
है कोई जिसने यह जाना ?
नहीं तुम्हारी मुख मुद्रा ने
सीखा इसका भेद बताना,
ज्ञात मुझे, पर, अब तक मेरी
पूर्ण नहीं पूजा हो पाई,
नयन तुम्हारे चरण कमल में अर्घ्य चढ़ा फिर-फिर भर आते।

यह मेरा दुर्भाग्य नहीं है
जो आँसू की धार बहाता
कस उसको अपनी साँसों में
अब तो मैं संगीत बनाता,
और सुनाता उनको जिनको
दुख - दर्दों ने अपनाया है,
मेरे ऐसे यत्न तुम्हारे पास भला कैसे आ पाते।
नयन तुम्हारे चरण-कमल में अर्घ्य चढ़ा फिर-फिर भर आते।

श्रौर न मेरे मन के श्रंदर
किसी तरह का पछतावा है,
मैं मानव हूँ श्रौर रहूँगा,
इतना ही मेरा दावा है,
पशुश्रों ने कब प्यार किया है,
कब वे सुन्दरता पर बिखरे ?
शक्ति-सुरुचि दोनों से वंचित ही इनको दुर्गुण बतलाते।
नयन तुम्हारे चरण-कमल में श्रर्घ्य चढ़ा फिर-फिर भर श्राते।

इस जल-कण माला का मतलब
साफ़ यहीं तक हो पाया है,
ऐसा लगता दूर कहीं से
भार हृदय ढोकर लाया है,
श्रनायास, श्रनजान, प्रयोजन-
हीन समर्पण करके तुमको
श्रंतर का कुछ श्रम कम होता श्रौ' कुछ-कुछ लोचन हलकाते।
नयन तुम्हारे चरण-कमल में श्रर्घ्य चढ़ा फिर-फिर भर श्राते।

२०

आ गई बरसात, मुझको आज फिर घेरे हुए बादल।
वायु के ये नम झकोरे
छू मुझे फिर भाग जाते हैं,
क्या पता इनको कि दिल के
दर्द कितने जाग जाते हैं,
नभ उधर भरता कि मेरा
कंठ भर आता अचानक ही,
आ गई बरसात, मुझको आज फिर घेरे हुए बादल।

था गगन कड़का कि छाती
में तुम्हें मैंने छिपाया था
थीं गिरीं बूंदें कि तुमने
और मैंने संग नहाया था,
याद सतरंगी लिए हम
इंद्रधनु की साथ लौटे थे,
सुधि-बसे कितने क्षणों को आज फिर छेड़े हुए बादल।
आ गई बरसात, मुझको आज फिर घेरे हुए बादल।

यह धरा की गंध मेरे
प्राण को हैरान करती है,
किंतु मेरे साथ यह कुछ
कम नहीं एहसान करती है,
यह थिरकती, गूँजती, है
बोलती हर साँस में मेरी,
यह बताती घूम-फिरकर आज फिर मेरे हुए बादल।
आ गई बरसात, मुझको आज फिर घेरे हुए बादल।

आज रिमझिम की प्रतिध्वनि
में नई लय जन्म लेती है,
दामिनी नव भावना के
देश का संकेत देती है—
बुद्धि और विवेक बल से
गीत कागज़ पर उतरते कब,
मूक मेरी लेखनी को आज फिर प्रेरे हुए बादल।
आ गई बरसात, मुझको आज फिर घेरे हुए बादल।

२१

मेरे मन का उन्माद गगन बदराया।
युगल पँखुरियों से धरती पर
ढलक पड़ा जो पानी,
मेरे अवसादों की उसमें
थी संपूर्ण कहानी,
किंतु आज सर छोटे, निर्झर
छोटे, छोटी नदियाँ,
मेरे मन का उन्माद गगन बदराया।

छिपे दिवाकर, चाँद, सितारे,
छिपी किरन उजियारी,
छिपी कहीं उमँडे मानस में
डरकर बुद्धि बिचारी,
बिजली बनकर कौंध रही है
हृदय सौध के ऊपर
सुधि उसकी जिसने युग-युग से तड़पाया।
मेरे मन का उन्माद गगन बदराया।

घन घुमड़ें, गरजें, तरजें, है
कौन बरजनेवाला,
मौन रहा करता है लेकिन
कवि का दर्द कसाला
तब तक जब तक हर पीड़ा है
गीत नहीं बन जाती,
खारे को बादल ने भी मधुर बनाया।
मेरे मन का उन्माद गगन बदराया।

बूंदें गिर-गिर भूमि भिगोएँ
उन्हें भले यह सोहे,
किंतु धरा के किस वैभव से
मेरा राग विमोहे,
वारि और वातास उठाओ,
तारों तक पहुँचाओ
जो मैंने अपने अमर क्षणों में गाया।
मेरे मन का उन्माद गगन बदराया।

२२

बादल घिर आए, गीत की बेला आई।

आज गगन की सूनी छाती
भावों से भर आई,
चपला के पाँवों की आहट
आज पवन ने पाई,
डोल रहे हैं बोल न जिनके
मुख में विधि ने डाले,
बादल घिर आए, गीत की बेला आई।

बिजली की अलकों ने अंबर
के कंधों को घेरा,
मन बरबस यह पूछ उठा है,
कौन, कहाँ पर मेरा ?
आज धरणि के आँसू सावन
के मोती बन बहुरे
घन छाए, मन के मीत की बेला आई।
बादल घिर आए, गीत की बेला आई।

चातक ने जल की बूंदों में
स्वाद अमृत का पाया,
आकाशी शिखरों से किसने
सुख का राग सुनाया,
आज करुण सबसे पृथ्वी के
आँगन में एकाकी
बादल घिर आए, प्रीति की बेला आई।
बादल घिर आए, गीत की बेला आई।

आज अधर की मधु-मदिरा में
डूब अधर जो पाते,
इन रसहीन पदों को क्योंकर
वे फिर-फिर दुहराते,
मैं न जहाँ पहुँचूगा, मेरे
शब्द पहुँच जाएंगे,
घन छाए, मन की जीत की बेला आई।
बादल घिर आए, गीत को बेला आई।

२३

क्या आज तुम्हारे आँगन में भी घन छाए ?
पीला, गर्दीला पच्छिम का आकाश हुआ,
आया झोंका
तूफान जिधर जी करता है मुड़ पड़ते हैं,
किसने रोका ?
पत्ते खरके, दरवाजा खड़का, दिल धड़का,
बादल आए,
क्या आज तुम्हारे आँगन में भी घन छाए ?

बढ़ता आया अँधियाला चार दिशाओं से,
बिजली चमकी,
फिर-फिर गर्जन-तर्जन करके अंबर ने दी
भू को धमकी,
मैं कब डरता, पर इस झंझा की वेला में
मन घबराता,
क्या प्राण तुम्हारे भी ऐसे में अकुलाए ?
क्या आज तुम्हारे आँगन में भी घन छाए ?

आँधी-पानी झकझोर नहीं देते वन के
तरु पातों को,
मानव की छाती भी, विरही समझा करते
इन बातों को,
जर्जर-कातर अंतर थर-थर काँपा करता,
आहें भरता ;
भगवान किसी को वर्षा में मत बिलगाए
क्या आज तुम्हारे आँगन में भी घन छाए

जब आसमान घिर जाता है, उर भी घिरता,
घुमड़ा करता,
जब आसमान विगलित होता, उर भी गलता,
उमड़ा करता,
अब अश्रु न रुकते, छंद न थमते हैं मेरे,
लो गीत बहा,
क्या आज तुम्हारे भी नत नयना भर आए
क्या आज तुम्हारे आँगन में भी घन छाए

चंचला के बाहु का अभिसार बादल जानते हों,
किंतु वज्राघात केवल प्राण मेरे, पंख मेरे।
कब किसीसे भी कहा मैंने कि उसके रूप-मधु की
एक नन्हीं बूँद से भी आँख अपनी सार आया,
कब किसीसे भी कहा मैंने कि उसके पंथ रज का
एक लघु कण भी उठाकर शीश पर मैंने चढ़ाया,
कम नहीं जाना अगर जाना कि इसका देखने को
स्वप्न भी क्या मूल्य पड़ता है चुकाना ज़िंदगी को,
चंचला के बाहु का अभिसार बादल जानते हों,
किंतु वज्राघात केवल प्राण मेरे, पंख मेरे।

जब भरे-भूरे घनों के बीच में दामिनि दमकती
तब अचानक एक बिजली दौड़ जाती है परों में,
और जब नभ है गरजता इस तरह लगता कि कोई
दुर्निवार पुकारता अधिकार, आज्ञा के स्वरों में,
कब धरा छूटी, हवा में कब उठा, पैठा गगन में,
धंस गया कितना, किधर को, कुछ नहीं मालूम होता,
मैं स्वयं खिंचता कि मुझको खींचता आकाश, इससे
सर्वथा अनजान बेकल प्राण मेरे, पंख मेरे।
चंचला के बाहु का अभिसार बादल जानते हों,
किंतु वज्राघात केवल प्राण मेरे, पंख मेरे।

परत के ऊपर परत डाले घटाएँ व्योम घेरे
हैं, अँधेरे के सिवा कुछ भी नहीं जो सूझता है,
पूछती हैं अट्टहासी व्यंग-सा करती दिशाएँ,
कौन जोधा है कि पानी औ' पवन से जूझता है!
एक पल के वास्ते मैं हूँ ठिठकता और अपना
नीड़ दृढ़ चट्टान के ऊपर बना जो याद आता,
दूसरे पल काटने में तम कि जो तत्काल जुड़ता
व्यस्त होते व्यर्थ पागल प्राण मेरे, पंख मेरे।
चंचला के बाहु का अभिसार बादल जानते हों,
किंतु वज्राघात केवल प्राण मेरे, पंख मेरे।

छूटता जब आग का शहतीर अंबर चीर, मैं हूँ
कौन ऐसी चीज़ मुझको जो निशाना भी बनाए,
पर पतिंगा इस प्रतीक्षा में कभी बैठा रहा है
दीप अपने-आप उसकी ओर अपनी लौ बढ़ाए।
टूटता हूँ उस तरफ़ को जिस तरफ़ को शोर उसका,
ज़ोर उसका आँकता हूँ। चोट भी जिसके करों की
है मधुर इतनी, लटों की ओट उसके कौन-सा है
स्वर्ग, बेसुध सोच घायल प्राण मेरे, पंख मेरे।
चंचला के बाहु का अभिसार बादल जानते हों
किंतु वज्राघात केवल प्राण मेरे, पंख मेरे।

२५

ले ली जीवन ने अग्नि-परीक्षा मेरी ।

मैं आया था जग में बनकर
लहरों का दीवाना,
यहाँ कठिन था दो बूँदों से
भी तो नेह लगाना,
पानी का है वह अधिकारी
जो अंगार चबाए,
ले ली जीवन ने अग्नि-परीक्षा मेरी ।

अंतरतम के शोलों को था
खुद मैंने दहकाया,
अनुभव-हीन दिनों में मुझको
था किसने बहकाया,
भीतर की तृष्णा जब चीखी
सागर, बादल, पानी ।
बाहर की दुनिया थी लपटों ने घेरी ।
ले ली जीवन ने अग्नि-परीक्षा मेरी ।

काठ कोयला जलकर बनता
और कोयला, राखी,
छिपा कहीं मेरी छाती में
था स्वर्गों का साखी,
दो आगों के बीज बनाकर
नीड़ रहा जो गाता,
ज्वाला के दिन में, निशि में धूम्र - अँधेरी।
ले ली जीवन ने अग्नि - परीक्षा मेरी।

पीड़ा को मधुमय, क्रंदन को
छंदों की मृदु वाणी,
अशुचि अमंगल को मैं मंगल
करने का अभिमानी,
स्वप्न चिता की भस्म जहाँ थी
फैली, उसपर मैंने
बिखरा दी अपने कलि - कुसुमों की ढेरी।
ले ली जीवन ने अग्नि - परीक्षा मेरी।

२६

यह चाँद नया है नाव नई आशा की।

आज खड़ी हो छत पर तुमने
होगा चाँद निहारा,
फूट पड़ी होगी नयनों से
सहसा जल की धारा,
इसके साथ जुड़ी जीवन की
कितनी मधुमय घड़ियाँ,
यह चाँद नया है नाव नई आशा की।

सात समुंदर बीच पड़े हैं
हम दो दूर किनारे,
किंतु गगन में चमक रहे हैं
दो तारे अनियारे,
मैं इनके ही संग-सहारे
स्वप्न तरी में बैठा,
गाता आ जाऊँगा तुम तक एकाकी।
यह चाँद नया है नाव नई आशा की।

बढ़ते-घटते चाँद समय की
राह कटेगी सारी,
नहीं परखते लोग लगन के
अँधियारी, उजियारी,
गीत मीत मेरी यात्रा का,
और जहाँ पर तुम हो,
पूनो ही पूनो मेरी अभिलाषा की।
यह चाँद नया है नाव नई आशा की।

अलग हुए कितने दिन बीते,
सोच ग़लत घबराना,
गए हुए की ओर न देखो,
देखो जिसको आना,
दूर नहीं अब साँझ मिलन की,
लो, गिनकर बतलाता—
ऐसे ही चौदह चाँद फ़क़त हैं बाकी।
यह चाँद नया है नाव नई आशा की।

याद तुम्हारी लेकर सोया, याद तुम्हारी लेकर जागा।
सच है, दिन की रंग - रँगीली
दुनिया ने मुझको बहकाया,
सच, मैंने हर फूल - कली के
ऊपर अपने को डहकाया,
किंतु अँधेरा छा जाने पर
अपनी कंथा से तन - मन ढक,
याद तुम्हारी लेकर सोया, याद तुम्हारी लेकर जागा।

वन खंडों की गंध पवन के
कंधों पर चढ़कर आती है,
चाल परों की ऐसे पल में
पंथ पूछने कब जाती है;
शिथिल भँवर की शरण जलज की
सलज पखुरियाँ ही बनती हैं,
प्राण, तुम्हारी सुधि में मैंने अपना रैन-बसेरा माँगा।
याद तुम्हारी लेकर सोया, याद तुम्हारी लेकर जागा।

सत्य - कल्पना में बसुधा पर
बहुत, युगों से बहस हुई है,
मगर तुम्हारी अधर - सुधा से
मेरी भीगी पलक छुई है,
कंठ लगाया तुमने तब तो
कंठस्थल से राग उमड़ता,
इतने कुछ को सपना समझूँ तो है मुझ-सा कौन अभागा।
याद तुम्हारी लेकर सोया, याद तुम्हारी लेकर जागा।

बीच खड़ी हैं हम दोनों के
अभी न जाने कितनी रातें—
अभी बहुत दिन करनी होंगी
केवल इन गीतों में बातें—
कितने रंजित प्रात, उदासी
में डूबी कितनी संध्याएँ;
सबके बीच पिरोना होगा, प्रिय, हमको धीरज का धागा।
याद तुम्हारी लेकर सोया, याद तुम्हारी लेकर जागा।

२८

हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।
जब घन अँधियाला तारों से ढल धरती पर
आ जाता है,
जब दर-परदा-दीवारों पर भी नींद-नशा
छा जाता है,
तब यंत्र-सदृश अपने बिस्तर से हो बाहर
चुपके - चुपके
हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।

समतल भू-तल, बत्ती की पाँतों के पहरे
में सुप्त नगर,
अंबर को दर्पण दिखलाते सरवर, सागर,
मधुबन, बंजर,
हिम-तरु-मंडित, नंगी पर्वत-माला, मरुथल
जंगल, दलदल—
सबकी दुर्गमता के ऊपर मुसकाता हूँ।
हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।

सपनों से डैने माँग लगाकर कंधों पर
उड़ता आता,
मेरे मन का उन्माद, हौसला प्राणों का
पथ बतलाता,
विज्ञानी ने ईजाद किए जितने वाहन,
जितने साधन
गति के—सब को चकराता हूँ, शरमाता हूँ।
हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।

पर कभी-कभी क्या निद्रा को हो जाता है
रूठा करती,
तुमको पाने के मेरे सारे यत्नों को
झूठा करती,
तब भाव-जलद पर इंद्रधनुष-रूपक धरकर
छंदों से कस
तुम तक गीतों के सौ-सौ सेतु बनाता हूँ।
हर रात तुम्हारे पास चला मैं आता हूँ।

२६

भावना तुमने उभारी थी कभी मेरी, इसे भूला नहीं मैं।
आज मैं यह सोचता हूं क्या तुम्हारी
आँख में था, हाथ में था,
क्या कहूँ इसके सिवा बस एक जादू-
सा तुम्हारे साथ में था,
टूट वह कब का चुका, जड़ सत्य जग का
सामने भी आ चुका है,
भावना तुमने उभारी थी कभी मेरी, इसे भूला नहीं मैं।

बैठ कितनी बार हमने क्रांति, कविता,
कामिनी की बात की थी,
और कितनी रात को हमने सुबह की
औ' सुबह को रात की थी,
एक दिन मेरा पता जो था, तुम्हारा
भी वही तो था ठिकाना,
वक़्त लेकिन आ गया है आज ऐसा हो कहीं तुम, हूँ कहीं मैं।
भावना तुमने उभारी थी कभी मेरी, इसे भूला नहीं मैं।

जानता मैं हूँ कि तुमको ज़िदगी की
मुश्किलों ने तोड़ डाला,
और तोड़ा तो नहीं मैंने उसे पर
कम नहीं झकझोर डाला ;
तुम चले जिस रास्ते उस रास्ते के
वास्ते कब तुम बने थे ;
यह किसी दिन मानना तुमको पड़ेगा, थे ग़लत तुम, था सही मैं।
भावना तुमने उभारी थी कभी मेरी, इसे भूला नहीं मैं।

और बीसों बार झगड़े भी हुए हैं
खूब आपस में हमारे,
दोष इसमें था तुम्हारा या कि मेरा,
यह बताए कौन, प्यारे,
भाव मेरे प्रति हुए हों कुछ तुम्हारे,
मानना, पर, सच कि मुझको
क्लेश है इस बात का जो देखता तुमको फला-फूला नहीं मैं।
भावना तुमने उभारी थी कभी मेरी, इसे भूला नहीं मैं।

३०

पाप मेरे वास्ते है नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना।
है वही छाती कि जो अपनी तहों में
राज़ कोई हो छिपाए,
जो कि अपनी टीस अपने आप झेले
मत किसीको भी सुनाए,
दर्द जो मेरे लिए था गर्व उसपर
आज मुझको हो रहा है,
पाप मेरे वास्ते है नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना।

वह अगस्ती रात मस्ती की, गगन में
चाँद निकला था अधूरा,
किंतु मेरी गोद काले बादलों के
बीच में था चाँद पूरा,
देह—वह थी भी अलग कब—नेह दोनों
एक मिलकर हो गए थे,
वेदनामय है मुझे तो उस घड़ी को याद रखना या भुलाना।
पाप मेरे वास्ते है नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना।

फिर हमारे बीच घड़ियाँ और फिर दिन,
फिर महीने, साल आए,
बीस दुनियाबी बखेड़े, सौ तरह के
जाल औ' जंजाल आए,
मार होती है बड़ी सबसे समय की
ख्याल पर, अब देखता हूँ,
तुम न वह अब, मैं न वह अब, वह न मौसम, वह तबीयत, वह ज़माना।
पाप मेरे वास्ते है नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना।

उन रुपहली यादगारों के लिए, पर,
मैं नहीं आँसू गिराता,
मैं उसी क्षण के लिए रोता कि जिसमें
मैं नहीं पूरा समाता,
और मैं जिसमें समाता पूर्ण वह बन
गीत नभ में गूँजता है,
तुम इसे पढ़ना कभी तो भूलकर मत आँख से मोती ढुलाना।
पाप मेरे वास्ते है नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना।

रात आधी, खींचकर मेरी हथेली एक उँगली से लिखा था 'प्यार' तुमने।
फ़ासला था कुछ हमारे बिस्तरों में
और चारों ओर दुनिया सो रही थी,
तारिकाएँ ही गगन की जानती हैं
जो दशा दिल की तुम्हारे हो रही थी
मैं तुम्हारे पास होकर दूर तुमसे
अधजगा-सा और अधसोया हुआ था,
रात आधी, खींचकर मेरी हथेली एक उँगली से लिखा था 'प्यार' तुमने।

एक बिजली छू गई, सहसा जगा मैं,
कृष्णपक्षी चाँद निकला था गगन में,
इस तरह करवट पड़ी थीं तुम कि आँसू
बह रहे थे इस नयन से उस नयन में,
मैं लगा दूँ आग उस संसार में है
प्यार जिसमें इस तरह असमर्थ-कातर,
जानती हो, उस समय क्या कर गुज़रने
के लिए था कर दिया तैयार तुमने ?
रात आधी, खींचकर मेरी हथेली एक उँगली से लिखा था 'प्यार' तुमने।

प्रात ही की ग्रोर को है रात चलती
ग्रौ' उजाले में ग्रँधेरा डूब जाता,
मंच ही पूरा बदलता कौन ऐसी,
ख़ूबियों के साथ परदे को उठाता,
एक चेहरा-सा लगा तुमने लिया था,
ग्रौर मैंने था उतारा एक चेहरा,
वह निशा का स्वप्न मेरा था कि ग्रपने पर
ग़ज़ब का था किया ग्रधिकार तुमने।
रात ग्राधी, खींचकर मेरी हथेली एक उँगली से लिखा था 'प्यार' तुमने।

ग्रौर उतने फ़ासले पर ग्राज तक सौ
यत्न करके भी न ग्राए फिर कभी हम,
फिर न ग्राया वक़्त वैसा, फिर न मौक़ा
उस तरह का, फिर न लौटा चाँद निर्मम,
ग्रौर ग्रपनी वेदना मैं क्या बताऊँ,
क्या नहीं ये पंक्तियाँ खुद बोलती हैं—
बुझ नहीं पाया ग्रभी तक उस समय जो
रख दिया था हाथ पर ग्रंगार तुमने।
रात ग्राधी, खींचकर मेरी हथेली एक उँगली से लिखा था 'प्यार' तुमने।

३२

नींद प्यारी थी तुम्हें तब क्योंकि तुमने
प्यार का शर-शूल था समझा न जाना।
वे किसी इतिहास के अध्याय-सी हैं
जोकि रातें जागकर मैंने बिताईं,
किंतु उन सारी निशाओं में मुझे क्यों
आज बरबस उस निशा की याद आई,
जबकि कर सौ कोशिशें मैं सो न पाया,
जब जगा तुमको न पाया सौ जतन कर,
नीद प्यारी थी तुम्हें तब क्योंकि तुमने
प्यार का शर-शूल था समझा न जाना।

जिस तरह बत्तीस दाँतों से घिरी है
जीभ, ऐसे उस समय था प्यार मेरा,
उठ हृदय से कंठ से फिर घुट रहा था
भावनाओं से भरा उद्गार मेरा,
क्रूरताएँ सब समय की माफ़ कर दूँ
पर क्षमा हरगिज़ नहीं मैं कर सकूँगा
उस निशा का व्यंग उसका ला तुम्हें
मेरे निकट भी, दूर भी मुझसे सुलाना।
नीद प्यारी थी तुम्हें तब क्योंकि तुमने
प्यार का शर-शूल था समझा न जाना।

मैं जगा लूंगा तुम्हें फिर आँख अपना
भाव, अपना घाव आँखों से कहेगी,
ओर दुनिया जो थकी, मांदी हुई है
स्वप्न में खोई हुई सोती रहेगी।
डर-भरी आवाज़ से मैंने तुम्हें फिर-
फिर पुकारा, तारकावलि से प्रतिध्वनि
लौटकर आई न जाने बार कितनी
पर असंभव था तुम्हारा सगबगाना।
नींद प्यारी थी तुम्हें तब क्योंकि तुमने
प्यार का शर-शूल था समझा न जाना।

दूर तुम थीं—साँस क्या लेती जवानी!—
जब तुम्हारी ओर को मैं फूंकता था,
एक ज़िद्दी लट तुम्हारे भाल पर से
मैं हटाने में नहीं तब चूकता था;
फूंकते ही फूंकते काली लटें सब
यामिनी की हट गईं निकला सबेरा,
सूर्य किरणों-सा मुझे आता नहीं था
तब किसीकी चूमकर पलकें जगाना।
नींद प्यारी थी तुम्हें तब क्योंकि तुमने
प्यार का शर-शूल था समझा न जाना।

धार थी तुममें कि उसको ग्रांकते ही हो गया बलिहार था मैं।

शौक़ ख़तरों-जोखिमों से खेल करने
का नहीं मेरा नया था,
किंतु चुंबक से खिंचा जैसा तुम्हारे
पास क्यों मैं ग्रा गया था,
कुछ समझने, ख्याल करने का कहाँ था
तब समय, ग्रब सोचता हूँ,
धार थी तुममें कि उसको ग्रांकते ही हो गया बलिहार था मैं।

ग्राग उसकी है, उसे जो बाँह में ले,
दाह झेले, गीत गाए,
धार उसकी, जो बुझाए प्यास उसकी
रक्त से ग्रौ' मुसकराए,
वक़्त बातों में नहीं ग्राता, परीक्षा
सख़्त लेता हर किसी की,
ग्रौर उसके वास्ते तो ज़िंदगी में सर्वदा तैयार था मैं।
धार थी तुममें कि उसको ग्रांकते ही हो गया बलिहार था मैं।

सिंह की थी माँद जिसमें पैठ तुमको
संग लाने मैं गया था,
था नसों में खून, दिल में जोश, आँखों
में भरा सपना नया था,
और मरने और जीने को इशारा
था तुम्हारा सिर्फ़ काफ़ी,
एक शोला बन खड़ा था गोकि केवल एक मुश्त ग़ुबार था मैं।
धार थी तुममें कि उसको आँकते ही हो गया बलिहार था मैं।

चाँद हँसिया-सा न जानें रात कितनी
साथ में सोता रहा है,
चंचला के साथ भी अभिसार मेरा
कम नहीं होता रहा है,
लेटती अब तेग़ है मेरे बग़ल में
करवटें लेती, किसी दिन
विश्व देखेगा कि अपने वक्ष पर पहने सदा क्षत-हार था मैं।
धार थी तुममें कि उसको आँकते ही हो गया बलिहार था मैं।

३४

प्रिय, देख मिलन मेरा-तेरा क्यों तारे जलते हैं ?
पत्ते सहसा आपस में यों
क्यों बात लगे करने ?
मलयानिल बहकर अंबर के
क्यों कान लगा भरने ?
डाली-डाली उँगली बनकर
क्यों हमपर उठती है ?
प्रिय, देख मिलन मेरा-तेरा क्यों तारे जलते हैं ?

हो साथ गए दो घड़ियों को
दो मिट्टी के ढोंके,
हैं काल-नियति के ही क्या कम
जो जग भी दे झोंके,
हम खुद कुछ दुख की सुधियों से
सुख पर संयम रखते,
है एक नयन हँसता, दूजे से आँसू ढलते हैं।
प्रिय, देख मिलन मेरा-तेरा क्यों तारे जलते हैं ?

जब मिट्टी करती प्यार
पलट कंचन बन जाती है,
जिस थल पर धरती पाँव
सुरभि उसपर फैलाती है;
जो ध्वनित धरा, प्रतिध्वनित
गगन-मंडल से होते हैं,
उस मिट्टी से ऐसे व्यापक उद्‌गार निकलते हैं।
प्रिय, देख मिलन मेरा-तेरा क्यों तारे जलते हैं?

झाँका करता है स्वर्ग
दृगों से प्रेमी के भू पर,
उतरा करता अमरत्व अवनि
पर आँखों से चूकर,
उस एक बिंदु पर सिंधु निछावर
फिर-फिर होता है,
उस एक बिंदु से मानवता के भाग्य बदलते हैं।
प्रिय, देख मिलन मेरा-तेरा क्यों तारे जलते हैं?

३५

तुम अपने जीवन की गाँठें खोलो, संगिनि, मैं भी खोलूँ।
धरती ने अपने अंतर की
गाँठें खोलीं तब वह फैली
हरित, भरित, रस-रंजित बनकर
थी जो मैली और कुचैली,
अंबर उर की गाँठें खोले
नित नीला, निर्मल, चमकीला
तुम अपने जीवन की गाँठें खोलो, संगिनि, मैं भी खोलूँ।

शब्द नहीं मानव ने पाया
अपने मन की बात छिपाए,
औरों को धोखे में रखते-
रखते खुद भी धोखा खाए,
फूल छिपाए भीतर - भीतर
काँटे हो जाया करते हैं,
तुम अपने अंदर के स्वर से बोलो, संगिनि, मैं भी बोलूँ।
तुम अपने जीवन की गाँठें खोलो, संगिनि, मैं भी खोलूँ।

कब मैं ही अपने गीतों में
अपना सारा कुछ रख पाता,
मुक्त पवन, यदि ऐसा होता,
उनको हर घर में ले जाता,
जो मैं तुमसे माँग रहा हूँ
वह तो प्रतिध्वनि ही कर देती,
तुम भी अपना हृदय टटोलो, मैं भी अपना हृदय टटोलूँ।
तुम अपने जीवन की गाँठें खोलो, संगिनि, मैं भी खोलूँ।

एक-दूसरे पर हँसने का
वक़्त कभी था, आज नहीं है,
राज़ तुम्हारा - मेरा जो, क्या
मानवता का राज़ नहीं है ?
दुर्बलताएँ प्रायः दिल की
परवशताएँ ही होती हैं,
तुम भी अपनी आँख भिगो लो, मैं भी अपनी आँख भिगो लूँ।
तुम अपने जीवन की गाँठें खोलो, संगिनि, मैं भी खोलूँ।

चढ़ चल मेरे साथ, करें हम इस पर्वत पर प्यार, सहेली।
तरु-कोटर में नम तमसावृत
नीचे उल्लू बास बसाते,
कौए-चील बनों की डालों-
जालों के ऊपर बस जाते,
मगर गरुड़ गढ़ गर्व बनाता
गिरि की गरिमामय चोटी पर,
चढ़ चल मेरे साथ, करें हम इस पर्वत पर प्यार, सहेली।

प्रेमी की छाती-सा फैला
क्षितिज-क्षितिज तक नीला अंबर
नीर-भरा मँडलाता बादल
पीर-भरा ज्यों कवि का अंतर
देवदारु के दंभी खंभे
महाकाव्य के सर्ग सरीखे,
रच देंगे हम बीच इन्हीं के गीतों का अभिसार, सहेली।
चढ़ चल मेरे साथ, करें हम इस पर्वत पर प्यार, सहेली।

छोटे मुँह, ओछे होठों की
छोटी, ओछी, गुपचुप बातें
छूट गईं उस ठौर जहाँ हैं
छोटे दिल के छोटे हाते,
अनल - अनिल आलाप यहाँ पर
ऊँची सतहों पर करते हैं,
या फिर उर की गहराई का होता है उद्‌गार, सहेली।
चढ़ चल मेरे साथ, करें हम इस पर्वत पर प्यार, सहेली।

वे दयनीय बड़े हैं जिनकी
दर - दीवारें लाज बचातीं,
जिनकी जिह्वा उनके मन को
मुखरित करती भी शरमाती,
और सहमती जिनकी आँखें
अपने ही को देख मुकुर में,
हम निर्भय, अभिमानी, हमको देखे सब संसार, सहेली।
चढ़ चल मेरे साथ, करें हम इस पर्वत पर प्यार, सहेली।

३७

सखि, अभी कहाँ से रात, अभी तो अंबर में लाली।
पर अभी नहीं चिड़ियों ने अपने
नीड़ों को मोड़े,
हंसों ने लहरों के अंचल-पट
अभी नहीं छोड़े,
जोड़े कलियों के अधरों से हैं अधर
भँवर अब भी,
सखि, अभी कहाँ से रात, अभी तो अंबर में लाली।

जाता फिर मंद पवन लतिका
की लट सहलाता है,
केवल मुझको मालूम मज़ा
जो उसको आता है,
संध्या दिन को बाँहों में अटकी,
भटकी, भूली-सी,
जाने की मुश्किल रुकने की मुश्किल में मतवाली।
सखि, अभी कहाँ से रात, अभी तो अंबर में लाली।

कब दिन डूबा, कब शाम हुई,
कब मैंने यह जाना,
घड़ियों का बंधन मैंने बस दो
वक़्त नहीं माना,
भुज - वल्लरियाँ बाँधें जब, आँसू
की लड़ियाँ बाँधें,
या बुनता हो जब मन शब्दों से भावों की जाली।
सखि, अभी कहाँ से रात, अभी तो अंबर में लाली।

कर योग - प्रयोग न मैंने नाड़ी-
कुंडलिनी साधी,
कर आसन - प्राणायाम न मैंने
साँसें ही बाँधीं,
पर लग्न - समाधि हुआ हूँ मैं
कुछ ऐसे मौक़ों पर,
कुछ देर मुझे खोया - खोया रहने दो, वाचाली।
सखि, अभी कहाँ से रात, अभी तो अंबर में लाली।

सबसे कोमल
आयर-मधुवन की कलिका का
तुम नाम अगर मुझसे पूछो,
भर आह कहूँगा मैं 'नोरा'।

दुनिया में कलियों के ऊपर
मधुपावलियाँ मँडलाती हैं,
रस में आकर्षण होता है,
मधु पी-पीकर उड़ जाती हैं;
मेरे यौवन की बाहों में
मुकुलित कलिका आई लेकिन
ग़श खाया उसकी पंखुरियों
में बस मेरे मन का भौंरा,

सबसे कोमल
आयर-मधुवन की कलिका का
तुम नाम अगर मुझसे पूछो,
भर आह कहूँगा मैं 'नोरा'।

निर्दयता से बेधा करता
जब जग मोती पा जाता है,

संतुष्ट गुमानी होता जब
गलहार बना दिखलाता है;
मेरे यौवन के हाथों को
शर्मीला मोती एक मिला
उलझा - पुलझा संकोचों में
ही किंतु रहा उर का डोरा।
सबसे निर्मल
आयर-सागर के मोती का
तुम नाम अगर मुझसे पूछो,
भर आह कहूँगा मैं 'नोरा'।

जग को उन तारों से मतलब
जो निशि में पथ बतलाते हैं;
जो नयनों में उतरा करते
अंतर में ज्योति जगाते हैं,
उन तारों को जग क्या जाने
क्या पहचाने, क्या सन्माने;
ऐसे ही एक सितारे से
पल को मैंने नाता जोड़ा ।
सबसे उज्ज्वल
आयर-अंबर के तारे का
तुम नाम अगर मुझसे पूछो,
भर आह कहूँगा मैं 'नोरा'।

३९

तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर निर्झर-से लहरे केश ।
तुम्हारे तन का रेखाकार
वही कमनीय, कलामय हाथ
कि जिसने रुचिर तुम्हारा देश
रचा गिरि-ताल-माल के साथ,
करों में लतरों का लचकाव,
करतलों में फूलों का वास,
तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर निर्झर-से लहरे केश ।

उधर झुकती अरुनारी साँझ,
इधर उठता पूनों का चाँद,
सरों, शृंगों, झरनों पर फूट
पड़ा है किरनों का उन्माद,
तुम्हें अपनी बाहों में देख
नहीं कर पाता मैं अनुमान,

प्रकृति में तुम बिंबित चहुँ ओर
कि तुममें बिंबित प्रकृति अशेष।
तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर निर्झर-से लहरे केश।

जगत है पाने को बेताब
नारि के मन की गहरी थाह–
किए थी चिंतित औ' बेचैन
मुझे भी कुछ दिन ऐसी चाह–
मगर उसके तन का भी भेद
सका है कोई अबतक जान!
मुझे है अद्‌भुत एक रहस्य
तुम्हारी हर मुद्रा, हर वेष।
तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर निर्झर-से लहरे केश।

कहा मैंने, मुझको इस ओर
कहाँ फिर लाती है तक़दीर,

कहाँ तुम आती हो उस छोर
जहाँ है गंग-जमुन का तीर;
विहंगम बोला, युग के बाद
भाग से मिलती है अभिलाष;
और···अब उचित यहीं दूँ छोड़
कल्पना के ऊपर अवशेष।
तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर निर्झर - से लहरे केश।

मुझे यह मिट्टी अपना जान
किसी दिन कर लेगी लयमान,
तुम्हें भी कलि-कुसुमों के बीच
न कोई पाएगा पहचान,
मगर तब भी यह मेरा छंद
कि जिसमें एक हुआ है अंग
तुम्हारा औ' मेरा अनुराग
रहेगा गाता मेरा देश।
तुम्हारे नील झील-से नैन,
नीर निर्झर-से लहरे केश।

तुम बुझाओ प्यास मेरी या जलाए फिर तुम्हारी याद।
स्वर्ण-चाँदी के कटोरों
में भरा था झलमलाता नीर,
मैं झुका सहसा पिपासाकुल
मगर फिर हो गया गंभीर—
भेद पानी और पानी,
प्यास में औ' प्यास में भी भेद,
तुम बुझाओ प्यास मेरी या जलाए फिर तुम्हारी याद।

कम अधर, कम कंठ में पर
प्राण में जो निर्नियंत्रित आग,
एक है मालूम तुमको
जो रही है वह सदा से आँग,
होठ भीगे हों, हृदय हो
किंतु मरु को शुष्क सूनी आह,
क्या बनूंगा आज अपना ही स्वयं दयनीय मैं अपवाद।
तुम बुझाओ प्यास मेरी या जलाए फिर तुम्हारी याद।

तृप्ति का वरदान लेने
से किया था एक दिन इनकार,
और सीमा ताप की भी
माननी थी कब मुझे स्वीकार,
बंधनों से प्यार जिसको
हो गया हो वह कहाँ को जाय,
लाख उसपर हो न पहरा, कर दिया जाए उसे आज़ाद।
तुम बुझाओ प्यास मेरी या जलाए फिर तुम्हारी याद।

पंखुरी पर ओस की दो
बूंद में भी डूबता है कौन,
उस घड़ी की ही प्रतीक्षा
में कभी गाता, कभी हूँ मौन,
जब अमृत सागर सुनेगा,
सिर धुनेगा फेन बन साकार,
औ' करेंगे सिंधु हाला औ' हलाहल के प्रणय-संवाद।
तुम बुझाओ प्यास मेरी या जलाए फिर तुम्हारी याद।

बिसरा दो, माना, मेरी थी नादानी।
मैं न कहूँगा मलयानिल ने
जो मुझको सिखलाया,
मैं न कहूँगा अलि-कलियों ने
जो कुछ पाठ पढ़ाया,
जो संकेत किए कोकिल ने
छिपकर मंजरियों में,
मुझको थी अपने कवि की लाज निभानी।
बिसरा दो, माना, मेरी थी नादानी।

याद यहाँ रखने की चीज़ें
किरणों की मुसकानें,
लहराती अंबर में तारों
की नित नीरव तानें,
मृदुल कल्पनाएँ मानव के
मन में उठनेवाली,
मेरी भूलों की मेरी साँस निशानी।
बिसरा दो, माना, मेरी थी नादानी।

मस्ताने तूफ़ान अगिनती
तरुवर तोड़ गिराते,
नदियों के यौवन में कितने
घाट-भवन बह जाते,
मैं अपना उल्लास ज़रा-सा
उनको दे आया था,
बंधन-मर्यादा मैंने पग-पग मानी।
बिसरा दो, माना, मेरी थी नादानी।

चली सरल, शुचि, सीधे पथ पर
किसकी राम कहानी,
कुछ अवगुन कर ही जाती है
चढ़ती बार जवानी,
यहाँ दूध का धोया कोई
हो तो आगे आए,
मेरी आँखों में फिर भी खारा पानी।
बिसरा दो, माना, मेरी थी नादानी।

व्योम पर छाया हुआ तम तोम, हे हिम हंस, तू जाता कहाँ है ?
नील-नीलम नभ निमंत्रण दे किसीको
तो करे इनकार कैसे,
आँख जिनके हो न उनको चाँद-सूरज
की किरण से प्यार कैसे,
ठीक है, दिल पास रखता हूँ, समझता
हूँ सभी कुछ, आज लेकिन,
व्योम पर छाया हुआ तम तोम, हे हिम हंस, तू जाता कहाँ है ?

झाँकती, संकेत करती जो गगन से
एक पावक-अंचला है,
झनझनाती पायलें जिसके पगों की
बादलों में चंचला है,
तू बढ़ा गर्दन चला पश्चिम तरफ़, है
पूर्व में मुसकान उसकी,
ध्वनि-प्रतिध्वनि, बिंब औ' प्रतिबिंब अंबर व्यर्थ भरमाता कहाँ है ?
व्योम पर छाया हुआ तम तोम, हे हिम हंस, तू जाता कहाँ है ?

आसमानी स्वप्न ललचाते उसे हैं
भूमि जिसकी जन्म-गोदी,
आग से खिलवाड़ करने को तरसता
ही सदा है जल-विनोदी,
और फिर डैने मिले, इनको थका आ,
तोड आ, चाहे जला आ,
बे दिए क़ीमत यहाँ वरदान कोई मुफ़्त में पाता कहाँ है ?
व्योम पर छाया हुआ तम तोम, हे हिम हंस, तू जाता कहाँ है ?

है ठहर तब तक फ़लक पर जब तलक है
ज़ोर बाज़ू का सलामत,
बिजलियों की हर लहर, तेरे ज़मीं की
ओर गिरने की अलामत,
दग्ध पर की, दग्ध स्वर की क़द्र केवल
एक धरती जानती है,
लाख आकर्षित किसीको भी करे आकाश अपनाता कहाँ है ?
व्योम पर छाया हुआ तम तोम, हे हिम हंस, तू जाता कहाँ है ?

४३

कौन सरसी को अकेली और सहमी
छोड़ तुम आए यहाँ हो, कुछ बताओ।
इस तरफ़ से रोज़ आना रोज़ जाना
आज सालों से लगा मेरा बराबर,
याद पड़ता है नहीं लेकिन कि देखा
है कभी पहले तुम्हें मैंने यहाँपर,
यह अचंभे की नज़र हर कंज,दल पर
तृण, लहर पर और चेहरे की उदासी,
जो छिपाने से नहीं छिपती, बताती
है, यहाँ के वास्ते तुम हो प्रवासी;
जो चला करते उठाकर गर्व-ग्रीवा
स्वागतम् कहते उन्हें हम किंतु फिर भी
कौन सरसी को अकेली और सहमी
छोड़ तुम आए यहाँ हो, कुछ बताओ।

कौन-सा वह देश तुम आए जहाँ से ?
किस तरह की भूमि है ? आकाश कैसा ?

किस तरह के पेड़-पौधे, फूल-पत्ती,
घास ? बहता है वहाँ वातास कैसा ?
कौन-सी चिड़ियाँ वहाँ पर चहचहाकर
हैं सबेरे की ख़ुमारी दूर करती ?
कौन-सी चिड़ियाँ सुरीली रागिनी से
रात की अलकावली में नींद भरतीं ?
कौन वे गिरि हैं कि जिनकी बाहुओं में
सो रही है वह कि जिसकी आरसी में
देखने को मुँह दिवस में सूर्य जाता,
यामिनी में चाँद आता, कह सुनाओ ?
कौन सरसी को अकेली और सहमी
छोड़ तुम आए यहाँ हो, कुछ बताओ।

और तुम अपना अमर वह देश तजकर
किसलिए परदेश में आए हुए हो ?
घूमती जो स्वर्ण हंसिनियाँ यहाँ हैं
क्या उन्हीं को देख पगलाए हुए हो ?
या कि हो परवाज़ जो आवाज़ सुनकर
दूर-दुर्गम की कभी रुकते नहीं हैं

नापते हैं मेरु, मरुथल, वन, समुंदर,
हैं यहाँ पर आज तो वे कल कहीं हैं ?

सर्वदा वे मुसकराते, मुख मलिन तुम;
क्या तरंगों से हुई थी कुछ लड़ाई ?
या कि अपनी संगिनी से रूठकर
आवेश में तुम भाग आए, मत छिपाओ ?

कौन सरसी को अकेली और सहमी
छोड़ तुम आए यहाँ हो, कुछ बताओ।

मूर्ति बनकर तुम खड़े हो किंतु मेरी
कल्पना तो है नहीं विश्राम करती,
देखती है दूर कोई भव्य मंदिर
सीढ़ियाँ जिसकी किसी सर में उतरतीं,

आरती वेला हुई है, शंख, घंटे,
घंटियों के साथ बजते हैं नगारे,
देव बालक दो प्रसादी ले उतरते
सीढ़ियों से आ गए हैं जल किनारे

औ' खिलाने को तुम्हें वे नाम ले-ले-
कर तुम्हारा हैं बुलाते, 'जल कलापी!',
'जल कलापति!' और उनकी ध्वनि-प्रतिध्वनि
से उठा है गूंज अंबर, लौट जाओ !

कौन सरसी को अकेली और सहमी
छोड़ तुम आए यहाँ हो, कुछ बताओ।

अब हेमंत-अंत नियराया, लौट न आ तू, गगन-विहारी।

खोल उषा का द्वार झाँकती
बाहर फिर किरणों की जाली,
अंबर की ड्योढ़ी पर अटकी
रहती फिर संध्या की लाली,
राह तुझे देने को कटते,
छटते, हटते नभ से बादल,
अब हेमंत-अंत नियराया, लौट न आ तू, गगन-विहारी।

जिन सूनी, सूखी शाखों में
होता तू दिन एक गया था,
मुझको था मालूम कि उनको
मिलने को पहराव नया था,
नई-नई, कोमल कोंपल से
लदी खड़ी हैं तरु-मालाएँ,
फूट कहीं से पड़ने को है सहसा कोयल की किलकारी।
अब हेमंत-अंत नियराया, लौट न आ तू, गगन-विहारी।

हिम की चादर फाड़ उभरती
धरती फिर से तिनकों वाली
करती है अभिसार कुसुम के
रंगों से मधुबन की डाली,
जलज निकलकर जल के तल पर
जोह रहे हैं बाट किसीकी,
कानों में कुछ भेद भरी-सी कह जाती है बात बहारी।
अब हेमंत-अंत नियराया, लौट न आ तू, गगन-विहारी।

मुझे दूर से ही लख लहरें
दौड़ी हौले-हौले आतीं,
तट पर गिर-गिर, पटक-पटक सिर
प्रश्न चिन्ह-सी फिर उठ जातीं,
मानो मुझसे पूछा करतीं
कहाँ गया तू, कब आएगा ?
कहता, 'कल', 'कल-कल' करती वे फिरतीं, आशा की बलिहारी।
अब हेमंत-अंत नियराया, लौट न आ तू, गगन-विहारी।

कौन हंसिनियाँ लुभाए हैं तुझे ऐसा कि तुझको मानसर भूला हुआ है ?
कौन लहरें हैं कि जो दबती - उभरती
छातियों पर हैं तुझे भूला भुलातीं ?
कौन लहरें हैं कि तुझपर फेन का कर
लेप, तेरे पंख सहलाकर सुलातीं ?
कौन-सी मधु - गंध बहती है पवन में
साँस के जो साथ अंतर में समाती ?
कौन हंसिनियाँ लुभाए हैं तुझे ऐसा कि तुझको मानसर भूला हुआ है?

कौन श्यामल, श्वेत औ' रतनार नीरज-
के निकुंजों ने तुझे भरमा लिया है ?
कौन हालाहल, अमीरस और मदिरा,
से भरे लबरेज़ प्यालों को पिया है
इस क़दर तूने कि मुझको आज मरना
और जीना और झुक-झुक झूमना सब
एक-सा है ? किस कमल के नाल की
जादू-छड़ी ने आज तेरा मन छुआ है ?
कौन हंसिनियाँ लुभाए हैं तुझे ऐसा कि तुझको मानसर भूला हुआ है?

चाँद, सूरज औ' सितारों की किरण से
कौन अप्सरियाँ वहाँ आतीं नहाने ?
और तुझको क्या दिखा, कर क्या इशारे
पास अपने हैं बुलाती किस बहाने ?
व्योम से वह कौन मोहनभोग लातीं
जो कि अपने हाथ से तुझको खिलातीं ?
फेरती तेरे गले पर जब उंगलियाँ तब
उतरती कौन स्वर्गिक-सी दुआ है ?
कौन हंसिनियाँ लुभाए हैं तुझे ऐसा कि तुझको मानसर भूला हुआ है ?

मानसर फैला हुआ है, पर, प्रतीक्षा
के मुकुर-सा मौन औ' गंभीर बनकर,
और ऊपर एक सीमाहीन अंबर,
और नीचे एक सीमाहीन अंबर,
औ' अडिग विश्वास का है श्वास चलता
पूछता-सा डोलता तिनका नहीं है—
प्राण की बाज़ी लगाकर खेलता है जो
कभी क्या हारता वह भी जुआ है ?
कौन हंसिनियाँ लुभाए हैं तुझे ऐसा कि तुझको मानसर भूला हुआ है ?

कह रही है पेड़ की हर शाख़, अब तुम आ रहे अपने बसेरे।
आज दक्खिन की हवा ने आ अचानक
द्वार मेरे खड़खड़ाए,
हलचली है मच गई उन बादलों में
जो कि थे आकाश छाए,
जो कि सुन सौ प्रश्न मेरे चुप खड़ी थी
आज बारंबार झुक-झुक
कह रही है पेड़ की हर शाख़, अब तुम आ रहे अपने बसेरे।

सूर्य की किरणें प्रखरतम घन तहों के
बीच होतीं, पार करतीं,
कालिमा पर ज्योति का विस्तार करतीं
चूमतीं जैसे कि धरती;
हे रजत पक्षी, तिमिर को भेदने से,
जो तुम्हारी राह छेके,
अब नहीं रुकते तुम्हारे पाँख, अब तुम आ रहे अपने बसेरे।
कह रही है पेड़ की हर शाख़, अब तुम आ रहे अपने बसेरे।

आज हीरे ले लहर आती, बिछाती
है कहीं मरकत किनारे,
आज उज्वल मोतियों से हाथ अपने
है कहीं सरसिज संवारे,
पर तुम्हारा मन प्रलोभन दे लुभाना
है असंभव, आज कोई
पंथ में वैभव बिछाए लाख, अब तुम आ रहे अपने बसेरे।
कह रही है पेड़ की हर शाख, अब तुम आ रहे अपने बसेरे।

याद आई आज होंगी वे तरंगें
दूब पर जो आह भरतीं,
और बूंदें आँसुओं की पंकजों के
लोचनों में जो सिहरतीं,
और अपनी हंसिनी के नीर-भीगे
नेत्र की अपलक प्रतीक्षा,
दाहिनी मेरी फड़कती आँख, अब तुम आ रहे अपने बसेरे।
कह रही है पेड़ की हर शाख, अब तुम आ रहे अपने बसेरे।

हो चुका [illegible]र दिन मेरा तुम्हारा
हेम हंसिनि, [illegible]ना भी यहाँपर कम नहीं है।
एक [illegible] है, उठी गर्दोगुबारी
ओ' इसीके साथ उड़ जाना मुझे है,
जानता मैं हूँ नहीं, कोई नहीं है
कब तुम्हारे पास फिर आना मुझे है,
यह विदा का नाम ही होता बुरा है
डूबने लगती तबीयत, किंतु सोचो—
हो चुका है चार दिन मेरा तुम्हारा,
हेम हंसिनि, और इतना भी यहाँपर कम नहीं है।

मैं निराला था, निराले देश आया
ओ' निराली ही लिए चाहें, उमंगें,
पर मिलीं खुलकर सलिल-बल्कल नलिनियाँ
और बाँहें खोल जल-कुंतल तरंगें,
बीच जिनके हम फिरे स्वच्छन्द होकर
और जिनपर झूम झूले और तैरे, किंतु मुझको,
हम अलग होने चले हैं जब हमारा
हर्ष सीमा छू रहा है, लेश इसका ग़म नहीं है।
हो चुका है चार दिन मेरा तुम्हारा,
हेम हंसिनि, और इतना भी यहाँपर कम नहीं है।

क्या प्रतीक्षा हम करेंगे उस घड़ी की
एक दिल से दूसरा जब ऊब जाए,
जिस ख़ुशी के बीच में हम डूबते हैं
जब हमारे बीच में वह डूब जाए,
आग चुंबन से निकलती है हमारे
और बिजली दौड़ती आलिंगनों में,
अलविदा का वक्त है यह, जब हमारे
बीच शंका है नहीं, सन्देह, भय या भ्रम नहीं है।
हो चुका है चार दिन मेरा तुम्हारा,
हेम हंसिनि, और इतना भी यहाँ पर कम नहीं है।

पंख चाँदी के मिले हों या कि सोने
के मिले हों, एक दिन झड़ते अचानक,
औ' सभी को देखनी पड़ती किसी दिन
जड़ प्रकृति की एक सच्चाई भयानक,
किंतु उनके वास्ते रोएँ उन्हें जो
बैठ सहलाते रहे हैं, किंतु उनसे जो बसंती
बात बतलाते, बवंडर सात दहलाते
रहे हैं, ज़िंदगी उनके लिए मातम नहीं है।
हो चुका है चार दिन मेरा तुम्हारा,
हेम हंसिनि, और इतना भी यहाँ पर कम नहीं है।

बाण-बिद्ध मराल-सा मैं आ गिरा हूँ अब तुम्हारी ही शरण में।
बादलों के देश तक जब चढ़ गया था
जानता था, लौट आना,
जानता था, है असंभव नीड़ बिजली
की लताओं पर बनाना,
मैं गगन को भूमि की आकांक्षाएँ
कुछ बताना चाहता था,
बाण-बिद्ध मराल-सा मैं आ गिरा हूँ अब तुम्हारी ही शरण में।

किंतु पश्चात्ताप करने के लिए तो
मैं नहीं तैयार होता,
नभ न मुझको खींच लेता तो धरा के
वास्ते मैं भार होता,
सिद्ध गिरकर कर दिया मैंने कि अपनी
शक्ति भर ऊपर उठा मैं,
आज कमज़ोरी नहीं, क़ूअत बड़ी मेरी,
तुम्हारे जो चरण में।
बाण-बिद्ध मराल-सा मैं आ गिरा हूँ अब तुम्हारी ही शरण में।

कामना मेरी बड़ी मुझसे कि उससे
मैं बड़ा, यह जानना था,
आदमी के तन नहीं, मन-हौसले का
क़द मुझे पहचानना था,
रेख लोहू की लगाकर आ रहा हूँ
मैं अधर की मेखला पर,
शक्ति अंबर में परीक्षित, भक्ति की
लूँगा परीक्षा मैं धरणि में।
बाण-बिद्ध मराल-सा मैं आ गिरा हूँ अब तुम्हारी ही शरण में।

पंख टूटा है, मगर यह ख़ैरियत है,
पाँव जो टूटा नहीं है,
जल-तरंगों से चपल संबंध मेरा
तो अभी छूटा नहीं है,
रक्त बहता जाय, कहता जाय जीवन
की पिपासा की कहानी,
जान लो यह, मुक्ति अपनी माँगने
आया नहीं हूँ मैं मरण में।
बाण-बिद्ध मराल-सा मैं आ गिरा हूँ अब तुम्हारी ही शरण में।

४६

कहाँ सबल तुम, कहाँ निबल मैं, प्यारे, मैं दोनों का ज्ञाता।
तप, संयम, साधन करने का
मुझको कम अभ्यास नहीं है,
पर इनकी सर्वत्र सफलता
पर मुझको विश्वास नहीं है,
धन्य पराजय मेरी जिसने
बचा लिया दंभी होने से,
कहाँ सबल तुम, कहाँ निबल मैं, प्यारे, मैं दोनों का ज्ञाता।

जो न कहीं भी हारा ऐसा
लेकर मैं पाषाण करूँ क्या,
हो भगवान अगर तो पूजूँ
पर लेकर इंसान करूँ क्या,
स्वर्ग बड़े जीवट वालों का,
ऐसों को तो नरक न मिलता,
दया-द्रवित हो इनके ऊपर यदि न इन्हें कोई ठुकराता।
कहाँ सबल तुम, कहाँ निबल मैं, प्यारे, मैं दोनों का ज्ञाता।

जो न कहीं भी जीते ऐसों
में भी मेरा नाम नहीं है,
मुझे उड़ा ले जाना नभ के
हर झोंके का काम नहीं है

पर तुम अपनी मुसकानों में
सौ तूफ़ान लिए आते हो,

कहीं, किधर को भी ले जाओ, सहसा मेरा पर खुल जाता।
कहाँ सबल तुम, कहाँ निबल मैं, प्यारे, मैं दोनों का ज्ञाता।

वज्र बनाई छाती मैंने
चोट करे घन तो शरमाए,
भीतर-भीतर जान रहा हूँ
जहाँ कुसुम लेकर तुम आए,

और दिया रख उसके ऊपर
टूक-टूक हो बिखर पड़ेगी,

प्रात पवन के छूने पर ज्यों फूल खिला भू पर झड़ जाता।
कहाँ सबल तुम, कहाँ निबल मैं, प्यारे, मैं दोनों का ज्ञाता।

५०

झलक तुम्हारी मैंने पाई सुख-दुख दोनों की सीमा पर ।
ललक गया मैं सुख की बाहों
में जब-जब उसने चुमकारा,
औ' ललकारा जब-जब दुख ने
कब मैं अपना पौरुष हारा;
आलिंगन में प्राण निकलते,
खड्ग तले जीवन मिलता है;
झलक तुम्हारी मैंने पाई सुख-दुख दोनों की सीमा पर ।

दुनिया की नीची सतहों पर
अलग-अलग सबकी परिभाषा;
हुआ न जिनका हास रुदनमय,
हुई न जिनकी आश निराशा,
वे छोटा-सा हृदय, परिधि भी
छोटी-सी नयनों की लाए;
मेरा तो दम ही घुट जाता ऐसे दिल के बीच समाकर ।
झलक तुम्हारी मैंने पाई सुख-दुख दोनों की सीमा फर ।

मेरा दिन चमका है सबसे
ज्यादा संध्या के आनन में,
मेरी रातें गहराई हैं
आकर ऊषा के आँगन में,
और लालिमा में दोनों की
मादकता थी मेरे मन की—
देश-काल को देखा मैंने अपने लोहू से नहलाकर।
झलक तुम्हारी मैंने पाई सुख-दुख दोनों की सीमा पर।

सब सुख का बलिदान, तुम्हारे
पावों की आहट अब आती,
सब दुख का अवसान, तुम्हारी
मूर्ति नयन में ढलती जाती,
जहाँ न सुख है, जहाँ न दुख है,
तुम हो एक—दूसरा मैं हूँ,
जीभ तीसरी जो गाती है ऐसे क्षण को गीत बनाकर।
झलक तुम्हारी मैंने पाई सुख-दुख दोनों की सीमा पर।

५१

यह ठौर प्रतीक्षा की घड़ियों का साखी।

यहाँ जहाँ पर कंटक, झाड़ों,
झंखाड़ों का जाला,
कभी खड़ा था पेड़ कदम का
शीतल छायावाला,
जिसके नीचे बैठ बिताता
था दिन श्याम-सलोना,
यह ठौर प्रतीक्षा की घड़ियों का साखी।

यहाँ बजा करती थी उसकी
मुरली धीरे - धीरे
ध्वनित हुआ करती थीं उससे
कितने मन की पीरें,
होता था उच्छल जमुना जल,
विह्वल मलय-समीरण,
विरहाकुल होते थे बिरवे, पशु, पाखी।
यह ठौर प्रतीक्षा की घड़ियों का साखी।

उन्मन हो उठते थे धुन से
धेनु चराते ग्वाले,
लगता था जैसे लेता है
कोई प्राण निकाले,
करती थीं गोरस ले जाती
सखियाँ कानाफूसी,
है कहीं निकट ही राधा का अभिलाषी।
यह ठौर प्रतीक्षा की घड़ियों का साखी।

कितनी बार न आई होंगी
खिंच इस रव से राधा,
कितनी बार मुखर मुरली ने
मौन न होगा साधा,
किंतु प्यास के स्वर की प्रतिध्वनि
ही कण-कण से आती,
है मूक मिलन की बेला का मृदुभाषी।
यह ठौर प्रतीक्षा की घड़ियों का साखी।

५२

मधुर प्रतीक्षा ही जब इतनी, प्रिय, तुम आते, तब क्या होता।
मौन रात इस भाँति कि जैसे
कोई गत वीणा पर बजकर
अभी-अभी सोई खोई-सी
सपनों में तारों पर सिर धर,
और दिशाओं से प्रतिध्वनियाँ
जाग्रत सुधियों-सी आती हैं,
कान तुम्हारी तान कहीं से यदि सुन पाते, तब क्या होता।
मधुर प्रतीक्षा ही जब इतनी, प्रिय, तुम आते, तब क्या होता।

उत्सुकता की अकुलाहट में
मैंने पलक पाँवड़े डाले,
अंबर तो मशहूर कि सब दिन
रहता अपना होश सँभाले,
तारों की महफ़िल ने अपनी
आँख बिछा दी किस आशा से,
मेरी मौन कुटी को आते तुम दिख जाते, तब क्या होता।
मधुर प्रतीक्षा ही जब इतनी, प्रिय, तुम आते, तब क्या होता।

तुमने कब दी बात रात के
सूने में तुम आनेवाले,
पर ऐसे ही वक्त प्राण - मन
मेरे हो उठते मतवाले,
साँसें भूल - भूल फिर - फिर से
असमंजस के क्षण गिनती हैं,
मिलने की घड़ियाँ तुम निश्चित यदि कर जाते, तब क्या होता।
मधुर प्रतीक्षा ही जब इतनी, प्रिय, तुम आते तब क्या होता।

बैठ कल्पना करता हूँ पग-
चाप तुम्हारी मग से आती,
रग - रग से चेतनता खुलकर
आँसू के कण - सी झर जाती,
नमक डली - सा गल अपनापन,
सागर में घुल-मिल-सा जाता,
अपनी बाहों में भरकर, प्रिय, कंठ लगाते, तब क्या होता।
मधुर प्रतीक्षा ही जब इतनी, प्रिय, तुम आते, तब क्या होता।

५३

मेरे उर की पीर पुरातन तुम न हरोगे, कौन हरेगा।
किसका भार लिए मन भारी
जगती में यह बात अजानी,
कौन अभाव किए मन सूना
दुनिया की यह मौन कहानी,
किंतु मुखर हैं जिससे मेरे
गायन-गायन, अक्षर-अक्षर,
मेरे उर की पीर पुरातन तुम न हरोगे, कौन हरेगा।

सच पूछो तो मेरा जग का
कुछ स्वर-शब्दों का नाता है,
किंतु बहुत कुछ मन का केवल
धड़कन बनकर रह जाता है,
जिसमें बंद समय की श्वासें
आश्वासन पाने को आतुर,
मेरी छाती पर अपना कर तुम न धरोगे, कौन धरेगा।
मेरे उर की पीर पुरातन तुम न हरोगे, कौन हरेगा।

दावा वन-वन आग लगाए,
बादल उठ-उठ वारि उँडेले,
किंतु हृदय की लौ-लपटों से
किसमें साहस है जो खेले,
यह उससे ही बुझ सकती है
जो इसको जाग्रत करता है,
यह तो काम तुम्हारा ही है, तुम न करोगे, कौन करेगा।
मेरे उर की पीर पुरातन तुम न हरोगे, कौन हरेगा।

सर, सरिता, निर्झर धरती के
मेरी प्यास परखने आए,
देख मुझे प्यासा का प्यासा
वे भरमाए, वे शरमाए,
ओर-छोर नभमंडल घेरे,
हे पावस के पागल जलधर,
मेरे अंतर के सागर को तुम न भरोगे, कौन भरेगा।
मेरे उर की पीर पुरातन तुम न हरोगे, कौन हरेगा।

५४

आज मलार कहीं तुम छेड़े, मेरे नयन भरे आते हैं।
तुमने आह भरी कि मुझे था
झंझा के झोंकों ने घेरा,
तुम मुसकाए थे कि जुन्हाई
में था डूब गया मन मेरा,
तुम जब मौन हुए थे मैंने
सूनेपन का दिल देखा था,
आज मलार कहीं तुम छेड़े, मेरे नयन भरे आते हैं।

तुम हो मेरे कौन ? जगत के
सम्मानित नातों की सूची,
ऊपर से नीचे तक मैंने
देखी बार अनेक समूची,
कह न सका कुछ, बतलाए तो
कोई, अस्फुट प्राणों के स्वर
ध्वनित प्रतिध्वनित जो होते हैं, आपस में क्या कहलाते हैं।
आज मलार कहीं तुम छेड़े, मेरे नयन भरे आते हैं।

फूल हँसी के तुमने मुख पर
डाल दिए तो मैं बलिहारी,
गीत कसकते कंठस्थल से
काढ़ लिए तो वारी-वारी,
नीरव घड़ियों की कड़ियों में
उलझा दो तो कैसे निकलूं,
प्रिय, सारे उपहार तुम्हारे मेरा हियरा हुलसाते हैं।
आज मलार कहीं तुम छेड़े, मेरे नयन भरे आते हैं।

हँसता हूँ तो उनकी अंजलि
रिक्त नहीं होगी कलियों से,
मुखरित होता तो पथ उनका
सुरभित होगा पंखुरियों से,
पलको, सूख न जाना देखो,
राग न उनका रुकने पाए,
किस मरु को मधुबन करने को आज न जाने वे गाते हैं।
आज मलार कहीं तुम छेड़े, मेरे नयन भरे आते हैं।

५५

मैं दीपक हूँ, मेरा जलना ही तो मेरा मुसकाना है।
आभारी हूँ तुमने आकर
मेरा ताप-भरा तन देखा,
आभारी हूँ तुमने आकर
मेरा आह-घिरा मन देखा,
करुणामय वह शब्द तुम्हारा-
'मुसकाओ' था कितना प्यारा।
मैं दीपक हूँ, मेरा जलना ही तो मेरा मुसकाना है।

है मुझको मालूम पुतलियों
में दीपों की लौ लहराती,
है मुझको मालूम कि अधरों
के ऊपर जगती है बाती,
उजियाला करदेनेवाली
मुसकानों से भी परिचित हूँ,
पर मैंने तम की बाहों में अपना साथी पहचाना है।
मैं दीपक हूँ, मेरा जलना ही तो मेरा मुसकाना है।

जल-जल किए हुए हूँ अपने
सपनों के घर में उजियाला,
फैलाए हूँ अपने मन के
चित्रों पर आलोक निराला,
पर यह अपने को ठगना है,
देखो तो क्या जलता लौ में,
अब मेरा बनना ही जो कुछ मेरा उसका मिट जाना है।
मैं दीपक हूँ, मेरा जलना ही तो मेरा मुसकाना है।

किसने पाया पंथ, किसे
अवलंब मिला मेरे उजियारे,
कौन करे अभिमान जहाँ हैं,
सूरज, चाँद, अकरपन तारे,
मेरी कल्मष रेख जुटा लो,
इनमें मेरी मानवता है,
अपना भी इतिहास किसी दिन इनमें ही तुमको पाना है।
मैं दीपक हूँ, मेरा जलना ही तो मेरा मुसकाना है।

५६

मेरे अंतर की ज्वाला तुम घर-घर दीप शिखा बन जाओ।
दिनकर का उर दाह धरा पर
सतरंगी किरणें बिखराता,
जलधर खारा आँसू पीकर
अमृत पृथ्वी पर बरसाता,
घाव धरणि सहती छाती पर
और उमहती है फूलों में,
अपनी जाति-वंश मर्यादा, हे मन, दुख में भूल न जाओ।
मेरे अंतर की ज्वाला तुम घर-घर दीप शिखा बन जाओ।

पुण्य इकट्ठा होता है तब
आग कलेजे में आती है,
इसका मर्म समझते वे ही
जिनका तन यह सुलगाती है,
भीतर ही रखते जो इसको
बनते राख-धुंए की ढेरी,
बाहर यह गाती, मुसकाती, ताप बटोरो, ज्योति लुटाओ।
मेरे अंतर की ज्वाला तुम घर-घर दीप शिखा बन जाओ।

बीत गए युग उन गुनियों के
जो थे वह आलाप उठाते,
अपने आप जिसे सुनते ही
सोए दीवे थे जग जाते,
दग्ध हृदय से निकला हर स्वर
दीपक राग हुआ करता है,
घोर अंधेरे की घड़ियाँ हैं, अपने को परखो, परखाओ।
मेरे अंतर की ज्वाला तुम घर-घर दीप शिखा बन जाओ।

अंबर में प्रभु की करुणा के
चिन्ह नहीं देते दिखलाई,
अवनी पर मानव के ऊपर
मानव आज बना अन्यायी,
किंतु नहीं नैराश्य-पराजित
होने की आवश्यकता है,
गीत अभी कवि के कंठों में—जाकर यह जग से कह आओ।
मेरे अंतर की ज्वाला तुम घर-घर दीप शिखा बन जाओ।

हे मन के अंगार, अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे।
जो न करेगा सीना आगे
पीठ उसे खींचेगी पीछे,
जो ऊपर को उठ न सकेगा
उसको जाना होगा नीचे;
अस्थिर दुनिया में थिर होकर
कोई वस्तु नहीं रहती है,
हे मन के अंगार, अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे।

जलना अर्थ उन्हीं का रखता
जो कि अँधेरे में खोयों को,
हाथों के ऊपर अवलंबित
आकुल, शंकित दृग कोयों को
आशा का आश्वासन देकर
जीवन का संदेश सुनाते,
जो न किरण की रेख बनोगे, धूलि-धुँए की धार बनोगे।
हे मन के अंगार, अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे।

मिट्टी-पानी मिलकर, खिलकर
रंग-बिरंगे कलि-फूलों में
ज्योति नई जाग्रत करते हैं
वन-उपवन कुंजों, कूलों में,
अग्नि शिखा कैसे धरती में
धंसकर खो जाना चाहेगी;
अवनि कलंक बनोगे निश्चय, जो न गगन श्रृंगार बनोगे।
हे मन के अंगार, अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे।

हृदय मिला है, उसमें चाहो
तो सारा संसार बसालो,
जिसका चाहो जी बहलाओ
जिससे चाहो जी बहलालो,
कंठ मिला है, जो भीतर से
उठता है बाहर बिखराओ,
भार बनोगे मन के ऊपर जो न सहज उद्गार बनोगे।
हे मन के अंगार, अगर तुम लौ न बनोगे, क्षार बनोगे।

तन के सौ सुख, सौ सुविधा में मेरा मन वनबास दिया-सा।
राजमहल का पाहुन जैसे
तृण कुटिया वह भूल न पाए
जिसमें उसने हों बचपन के
नैसर्गिक निशि-दिवस बिताए,
मैं घर की ले याद करकती
भड़कीले साजों में बंदी,
तन के सौ सुख, सौ सुविधा में मेरा मन वनबास दिया-सा।

सच, ज़ंजीर नहीं है ऐसी
जो चाहूँ तो तोड़ न पाऊँ,
पर जब घर की डगर भुला दी,
तब किस दिशि को पाँव बढ़ाउँ,
धुंधली - सी आवाज़ बुलाती
ऊपर से, पर पंख कहाँ हैं,
छलना-सी धरती है मुझको और मुझे अंबर छलिया-सा।
तन के सौ सुख, सौ सुविधा में मेरा मन वनबास दिया-सा।

गगन, गगन के ऊपर घन,
घन के ऊपर है, उडगन पाँती,
उडगन के ऊपर बसता है
प्राण पपीहे का प्रिय स्वाती,
उसकी आँखों के करुणा कण
का सपना होठों पर अंकित
कर, किसने सागर की गोदी में बिठला उपहास किया-सा।
तन के सौ सुख, सौ सुविधा में मेरा मन वनबास दिया-सा।

सुभग तरंगें उमग दूर की
चट्टानों को नहला आतीं,
तीर-नीर की सरस कहानी
फेन लहर फिर-फिर दुहराती
औ' जल का उच्छ्वास बदल
बादल में कहाँ-कहाँ जाता है,
लाज-मरा जाता हूँ कहते, मैं सागर के बीच पियासा।
तन के सौ सुख, सौ सुविधा में मेरा मन वनबास दिया-सा।

५६

तुमको छोड़ कहीं जाने को आज हृदय स्वच्छंद नहीं है।
रोमराजि पहले गिन डालूँ
तब तन के बंधन बतलाऊँ,
नाम दूसरा मन का बंधन
कैसे दोनों को अलगाऊँ,
नित्य बचन की गाँठ जोड़ती
मेरी रसना—मेरी रचना,
तुमको छोड़ कहीं जाने को आज हृदय स्वच्छंद नहीं है।

तुमसे नाता जोड़ अवनि से
ले अंबर पर्यंत तुम्हारा
जो था सब की ओर ललककर
मैंने अपना हाथ पसारा,
नीति-नियम के ऊपर चढ़कर
तुमने ही यह बात कही थी
मेरे कानों, में 'तू कवि है तुझपर कुछ प्रतिबंध नहीं है।'
तुमको छोड़ कहीं जाने को आज हृदय स्वच्छंद नहीं है।

रूप, रंग, रस, गंध सना तो
मुझसे कोई पाप हुआ क्या,
उस दिन का आदेश तुम्हारा
हाय राम, अभिशाप हुआ क्या
अपने मन को समझ तुम्हारा
ही तो मैंने दुलराया था,
मेरे भाल कलंक तुम्हारे हाथ लगाया चंदन ही है।
तुमको छोड़ कहीं जाने को आज हृदय स्वच्छंद नही है।

मेरी दुर्बलता के पल को
याद तुम्हीं करुणाकर आते,
अपनी करुणा के क्षण में तुम
मेरी दुर्बलता बिसराते,
बुद्धि बिचारी गुमसुम, हारी
साफ़ बोलता पर चित मेरा—
मेरे पाप तुम्हारी करुणा में कोई संबंध कहीं है।
तुमको छोड़ कहीं जाने को आज हृदय स्वच्छंद नहीं है।